

• श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गो जयतः •

| | | |
|--|--|--------------------------------------|
| ✽ | स वै वृसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्ष | ✽ |
| धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विध्वक्सेन कथाम् यः |  <p>भागवत-पत्रिका</p> | नोत्पादयेद्यदि रति श्रम एव हि केवलम् |
| ✽ | अहेतुक्यप्रतिहता ययात्मानुप्रसीदति ॥ | ✽ |

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहेतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बंधनकर ।

वर्ष १०

गौराब्द ४७८, मास—केशव २६, वार—प्रद्युम्न
मंगलवार, २६ अग्रहायण, सम्वत् २०२१, १५ दिसम्बर १९६४

संख्या ६-७

श्रीप्रेमाम्भोज-मरन्दाख्य-स्तवराजः

महाभावोज्ज्वलच्चिन्ता-रत्नोद्भाषित-विग्रहाम् ।
सखीप्रणयसद्गन्ध-वरोद्धतन-मुप्रभाम् ॥१॥

कारुण्यामृतवीचीभिस्ताहण्यामृत-धारया ।
लावण्यामृतवन्याभिः स्नपितां ग्लपितेन्दिराम् ॥२॥

ह्रीपट्टवल्लगुप्ताङ्गीं सौन्दर्य-सुसृणाञ्चिताम् ।
श्यामलोज्ज्वलकस्तुरी-विचित्रित-कलेवराम् ॥३॥

कम्पाश्रुपुलकस्तम्भस्वेदगद्गदरक्तता ।
उन्मादो जाड्यमित्येतं रत्नैर्नवभिरुत्तमैः ॥४॥

बलुत्तालङ्कृतिसंश्लिष्टां गणालीपुष्पमालिनीम् ।
धीराधीरात्व-सद्वास-पटवासैः परिकृताम् ॥५॥

प्रच्छन्नमानधम्मिल्लां सौभाग्य-तिलकोज्ज्वलाम् ।
 कृष्णनाम-यशः-श्राव-वर्तसोल्लासि-कणिकाम् ॥६॥
 रागताम्बूलरक्तौष्ठीं प्रेमकौटिल्य-कज्जलाम् ।
 नर्मभाषित-निःस्यन्द-स्मितकपूर् रवासिताम् ॥७॥
 सौरभान्तःपुरे गर्वपर्यङ्कोपरि लीलया ।
 निविष्टां प्रेमवंचित्य-विचलतरलाञ्जिताम् ॥८॥
 प्रणयक्रोध-सञ्चोलीबन्धगुतीकृतस्तनाम् ।
 सपरनीबक्त्रहृच्छोषि-यशः-श्रीकच्छपीरवाम् ॥९॥
 मध्यतात्मसखीस्कन्ध-लीलान्यस्तकराम्बुजाम् ।
 श्यामां श्यामस्मरामोदमधुखी-परिवेशिकाम् ॥१०॥
 त्वां नत्वा याचते घृत्वा तृणं दन्तरयं जनः ।
 स्वदास्यामृतसेकेन जीवयामुं सुदुःखितम् ॥११॥
 'न मुञ्चेच्छरणावातमपि दुष्टं दयामयः ।
 अतो गान्धर्विके हा हा मुञ्चैनं नैव तादृशम् ॥१२॥
 प्रेमांभोजमरन्दाख्यं स्तवराजमिमं जनः ।
 श्रीराविकाकृपाहेतुं पठंस्तदास्यमाप्नुयात् ॥१३॥

अनुवाद—

जिनका श्रीविग्रह महाभाव (कृष्णप्रेमकी सर्वोच्च-
 अवस्था) रूप चिन्तामणिसे उद्भासित रहता है,
 सखियोंके स्नेहरूपी सुगन्धयुक्त श्रेष्ठ उबटनसे जिनकी
 अङ्गकान्ति और भी निखर उठती है; कारुण्यकी
 सुधातरंगोंसे, तारुण्यकी अमृतधारासे तथा लावण्य
 की अमृतमयी बाढ़से जो (सदा) प्लावित रहती
 हैं और जो अपनी शोभासे साक्षात् महालक्ष्मीको
 भी लज्जित करती रहती हैं; जो लज्जारूप रेशमी
 वस्त्रसे अपने श्रीअंगोंको आच्छादित किये रहती हैं,
 सौन्दर्य-रूपी केशरसे षचिन्त रहती हैं तथा जिनकी
 देहयष्टि श्यामवर्णकी शृंगार-रस-रूप कस्तुरीसे
 चित्रित रहती है; जो कम्प, अश्रु, पुलक, स्तम्भ,
 स्वेद, गद्गद् स्वर, वैवर्ण्य, उन्माद और जड़तारूप
 श्रेष्ठ नवरत्नोंसे निर्मित अलङ्कारों द्वारा सुशोभित
 रहती हैं, गुणावलीरूप पुष्पहारसे अलङ्कृत हैं और
 धीरता और अधीरतारूप सुगन्धित पटवास (पाउडर)
 से परिष्कृत है, जिनका मानरूपी केशपाश ढका
 रहता है, जिनका ललाट सौभाग्यरूप तिलकसे देदी-
 प्यमान है, श्रीकृष्णके नाम और यशके अवणरूप
 कर्णफूलसे जिनके कान उल्लसित होते रहते हैं, अनु-

रागरूप ताम्बूलसे जिनके ओठ लाल-लाल हुए रहते हैं, प्रेमजनित वक्रता (वाम्य) रूप काजल जो अपने नेत्रोंमें आँजे रहती हैं, प्रियतम (श्याम-सुन्दर) तथा सखीजनोंकी नर्मोक्तियोंको सुनकर प्रकट हुए मुस्कानरूप कपूरसे जिनका श्रीविग्रह सुवासित रहता है, सौरभ (कीर्ति) रूप अन्तःपुरमें गर्व (मान) के पलङ्ग पर जो स्वाभाविक ही पौड़ी रहती हैं, एवं विप्रलम्भ (प्रेमवैचित्र्य)-रूप हिलते हुए पदिक (हारके बीचकी मणि)-से जो सुशोभित रहती हैं, प्रणयकोपरूप उत्तमचोलीके बन्धनसे जो अपने वक्षःस्थलको छिपाये रहती हैं, तथा अपने यशकी शोभा रूप बीणाकी झनकारसे जो अपनी सपरिनियोंके मुख और हृदयको म्लान करती रहती हैं, जिन्होंने मध्या-

नायिकोचित भङ्गिरूप सखी अथवा मध्यता अर्थात् यौवन-रूप सखीके कंधेपर लीला रूप अपने हस्तकमलको रख छोड़ा है, जो श्यामा अर्थात् विशेष गुणोंसे युक्त हैं तथा जो शृंगार जनित प्रेमानन्दरूप मधुका परिवेषण करती रहती हैं, ऐसी आपसे यह दीन दाँतोंमें तृण दबा कर प्रणाम करता हुआ प्रार्थना करता है कि इस दुखियाको अपनी सेवारूप सुधासे सींच कर जिला दें । दयामय लोग शरणमें आये हुए दुष्टका भी परित्याग नहीं करते । अतः हे गान्धर्विके । इस दुष्टका आप कभी भी परित्याग न करें । श्रीराधिकाकी कृपाको प्रकट करने वाले, इस प्रेमाभोजमरन्द नामक स्तवराजका पाठ करने वाला मनुष्य उनके दास्यको प्राप्त कर लेता है ।

श्रीभक्ति मार्ग

अप्राकृत इन्द्रिय द्वारा अप्राकृत कृष्णका अनुशीलन ही भक्ति है । जो अभक्तिका मार्ग नहीं है और जिस पथमें अनुकूल अप्राकृत कृष्ण सेवाकी बातें हैं, वही शुद्ध भक्तिका पथ है । अनुकूल कृष्ण अनुशीलन कहने से कृष्णसे इतर अभिलाषा नामक प्रतिकूल मायिक विषय भोगको परित्याग कर शुद्ध-जीवोंके हरिसेवन वृत्तिका बोध होता है अर्थात् प्रकृतिसे आती अप्राकृत-वस्तु जीव अप्राकृत उपादान से अप्राकृत-वैकुण्ठ कृष्णका अप्राकृत अनुशीलन करता है । उस भक्तिमें वैकुण्ठेतर जड़ मायाकी कोई उपयोगिता नहीं होती । नारद-पंचरात्रमें कहा

गया है कि शुद्ध जीवकी अप्रकृत इन्द्रियों द्वारा अप्राकृत इन्द्रियाधिपति कृष्णके तत्परत्वसहित अर्थात् अनुकूल भावसे सर्वोपाधिमुक्त-सेवन या अनुशीलन को भक्ति कहते हैं ।

माया और वैकुण्ठके धर्मोंमें पार्थक्य

मायाका धर्म जीवको भोगोंमें प्रवृत्त कराना है, किन्तु वैकुण्ठका धर्म भक्ति है, जो जीवको कृष्ण-दास्यमें नियुक्त करती है । मायाका धर्म—प्राकृत अर्थात् भोगी जीवोंका इन्द्रियवृत्तिकर होता है और मायातीत वैकुण्ठ-धर्म—अप्राकृत अर्थात् कृष्णेन्द्रियों का प्रीतिदायक होता है, अथवा कृष्णके अप्राकृत

रूप-रस-गन्ध-शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें शुद्ध जीवकी अनुभूतिको वैकुण्ठ-धर्म कहते हैं । शुद्ध-जीवका इन्द्रिय-समूह दुराशावश व्यतिरेक भावसे मायाके बाह्य विषयोंमें नियुक्त होनेसे उसका (जीवका) भोक्ताभिमान प्रबल होता है एवं तभी उसके स्वरूप की विभ्रान्ति होती है । वह नित्य कृष्णादास्यको भूल कर मायाके आश्रयमें मा=नहीं या निन्दनीय, या=जो अर्थात् माया=जो कृष्ण नहीं है अथवा 'मियते अनया' अर्थात् बाह्य-वस्तुका भोक्तृत्व अवलम्बन कर प्राकृत अभिमानमें नित्य संसार-भोग का पथ ग्रहण कर अपने भोग्य-विषय—प्राकृत रूप-रसादिका परिमाण (मापतौल) करनेमें व्यस्त रहता है । शुद्ध-जीवका इन्द्रिय-समूह जब अनुकूल भावसे कृष्ण-प्रीतिके उद्देश्यसे कृष्णकी इन्द्रियोंकी सेवामें नियुक्त होता है तब जीवका अप्राकृत भोग्य अभिमान प्रबल होता है, जिसे भोगीजन निर्बुद्धिता कहकर नितान्त घृणा करते हैं, क्योंकि इसमें भोक्ताकी स्वार्थपरताका सम्पूर्णरूपसे निषेध होता है । अप्राकृत इन्द्रियों द्वारा कृष्ण-सेवाकी यह वृत्ति ही जीवके स्वरूपको उपलब्ध कराती है ।

नीलकण्ठीय भक्ति या मायाका भजन भक्ति नहीं

दक्षिण भारतके नीलकण्ठीय-शैव-विशिष्टाद्वैत-वादकी भक्ति और किसी भक्त या रामानुजीय विशिष्टाद्वैतवादकी भक्ति एक नहीं । दोनों में आकाश-पातालका अन्तर है । जहाँ पर शुद्ध जीवानुभूति अपवर्ग लाभ कर वैकुण्ठ वस्तु भगवान्को भोक्ता जाननेके बदले अपना भोग्य समझती है, उसे दूसरे शब्दोंमें प्राकृत भोग अथवा अवैष्णव धर्म

कहते हैं । वहाँ मायाके साथ भगवान् योष (नारी) और जीव पुरुष होता है । अवैष्णवोंकी रुचिके अनुकूल मायाको 'कृष्ण' संज्ञा देकर-मायाके भजनसे ही प्राकृत सहजिया, थियोसफी, बाउनादि धर्मोंकी उत्पत्ति हुई है, यह वैष्णवोंका भक्ति-धर्म नहीं है ।

उपास्य तत्त्व में मातृत्व का आरोप भक्ति नहीं

श्रीमन्महाप्रभुने प्रेम-भक्तिके सिलसिलेमें जिन दास्यादि रसोंका उपदेश दिया है उनमें अवैष्णवोंके उपास्य मातृत्वका आरोप कृष्णमें कहीं भी नहीं किया गया है, क्योंकि वैसी स्थिति भक्ति-धर्मका प्रतिकूल विषय है । मायावादी मोखिकरूपसे गौर-भक्त बनकर श्रीकृष्णमें मातृत्व या कृष्णके साथ माया की एकताका आरोप कर भक्ति-धर्मका पथ भूल बैठते हैं ।

प्राकृत सहजिया:—[१] प्राकृत पुरुष-देह में योषित्-कल्पना

प्राकृत सहजिया) Anthropomorphists) कृष्णलीलाका अनुकरणकर अपनी प्राकृत भोगमय इन्द्रिय-सुखकर प्रवृत्तिको ही भक्ति समझते हैं । प्राकृत सहजिया दो प्रकारके होते हैं । जो प्राकृत इन्द्रिय तृप्ति परायण होकर कर्मफलके अनुसार प्राकृत पुरुष-शरीर धारण करके भी अपनेको योषित् (नारी) कल्पना कर स्थूल भोगोंमें आसक्त हैं एवं योषित् गुरु में कृष्ण होनेका आरोप कर अपनेको भावमार्गमें अवस्थित समझते हैं तथा प्राकृत जड़ संभोगको हरिलीलाका प्रकार भेद समझते हैं वे एक प्रकारके सहजिया हैं ।

प्राकृत सहजिया—[३] स्त्रैण गृहव्रत धर्मद्वारा कृष्ण-प्रेम लाभ

दूसरे प्रकारके सहजिया सम्प्रदायका कहना है कि भोग्या स्त्रीमात्र ही अप्राकृता हैं और भोक्ता पुरुष मात्र ही अप्राकृत हैं। स्त्रैणभावका पोषण करते हुए गृहव्रत धर्मका पालन करने से ही पुरुषों का प्राकृतत्व कम होते-होते क्रमशः कृष्ण-प्रेम उदित होता है। इनके मतमें परमहंस वैष्णव, गृहव्रती नहीं होनेके कारण वैधी साधन-भक्त-श्रेणीके निम्नस्थ अधिकारी हैं तथा इन साधकोंको कृष्ण-प्रेम की उपलब्धि नहीं होती। पवित्र हरि-सेवा-रत गृहस्थ वैष्णवोंको ये लोग अपनी तरह गृहव्रती समझते हैं। स्त्रैण न होकर गृहस्थ शुद्ध वैष्णवगण हरिभजन कैसे कर सकते हैं—वे इसे समझना नहीं चाहते। वे कृष्णके संसारके समस्त अर्थोंको केवल अपनी बड़ि-सुखी विषय-प्रवृत्ति चरितार्थ करनेके उद्देश्यसे व्यय करते हैं तथा स्त्री-पुत्रादिकी माया-ममतामें आत्म-बलिदान किया करते हैं।

गृहस्थ वैष्णवोंका वैराग्य और स्त्रैण विषयी का संभोग रस एक नहीं

भड़ूठाकुर या श्रीवासादिकी शुद्ध-भक्ति, रामानन्दरायका सुतीव्र वैराग्य, श्रीमन्महाप्रभुके भक्तोंका कृष्णोत्तर विषयोंसे वैराग्य-प्रधान भाव और महाप्रभुके संन्यासका कारण समझनेमें अक्षम होकर ये अपने गृहव्रतधर्मके पालन और निज-निज इन्द्रिय

तर्पण करनेमें ही आनन्द लाभ करते हैं। हरिभक्ति के नाम पर इन्द्रिय-तर्पण (विषय-भोग) करने में खूब आनन्द लूटते हैं। स्त्रैण-विषयी लोग स्वजाति, स्वदेश और स्वदल में रह कर रसगान सुनकर भक्ति को पार्थिव माटिया (Material idia) अथवा प्राकृत समझ कर शुद्ध गृहस्थ वैष्णवोंके चरणोंमें अपराधी होते हैं। श्रील भक्तिविनोद आनन्दसे गद्-गद् होकर 'मतिर्नकृष्णे' श्लोक त्रय द्वारा इन विचारोंको खूब ही सुन्दररूपसे विश्लेषण कर समझाते थे। अपने सुखके लिए संभोग-रसके उदयहोने पर तादृश आनन्दके प्रति भक्तोंका महाक्रोध होता होता है। श्रीचैतन्य चरितामृत आदि लीला चतुर्थ परिच्छेद के २०१ संख्यक पयारमें कहा गया है—

निज प्रेमानन्दे कृष्ण सेवन्द बाधे ।

से आनन्देर प्रति भक्तेर ह्यः महाक्रोधे ॥

(कृष्ण-सेवानन्दमें बाधा प्रदान करनेवाले निजानन्दके प्रति भक्तोंका महाक्रोध उदरन्न होता है)

अङ्गस्तम्भारम्भमुत्तुङ्गयन्तं-

प्रेमानन्दं दासको नाम्यनन्दत् ॥

कंसारातेर्वीजने येन साक्षा-

दलोदीयानन्तरायो व्यधायि ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु, प० विभाग

२ तीय लहरी, २४ श्लोक)

आर शुद्ध भक्त कृष्ण प्रेम-सेवा विने ।

स्वमुत्तार्थं सालोक्यादि ना करे सहणे ॥

(चं० च० आ० ४-२०४)

* अर्थात् श्रीकृष्णको चँवर न्यजन करनेके समय प्रेमानन्दसे उत्पन्न अपने देहकी जड़ताको कृष्ण सेवामें विघ्न समझकर दासकने उसका अभिनन्दन न किया अर्थात् वे बड़े दुःखी हुए ।

(शुद्ध भक्त कृष्ण-प्रेम-सेवाका परित्याग कर आत्म-सुखके लिए सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति भगवान्के द्वारा दिये जाने पर भी ग्रहण नहीं करता ।)

आत्यन्तिक भक्तियोग

श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कंधमें कहा गया है कि श्रीकपिलदेव अपनी मातासे बोले कि जिनके हृदयमें अहेतुकी और विघ्नरहित कृष्ण-भक्ति उदित हुई है, उन्हें मेरे साथ समलोक, समरूप, समैश्वर्य और मेरा सामीप्य लाभ—इन चार प्रकारकी मुक्ति-संभोग देने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते । वे केवल मेरी सेवा प्रार्थना करते हैं । यही अत्यन्तिक भक्ति योग है ।

रागानुगा भक्तिका साधन और परिचय

भक्त-रसकी पराकाष्ठा गोपी-प्रेममें है । यह प्राकृत और कामगंधहीन होता है । चरितामृतकी कतिपय पयारें इस विषयमें रागानुगीय भक्ति-साधकोंके निदर्शन स्वरूप हैं । इस अपूर्व भगव-समूहसे पराङ्ग-मुख होकर कोई भी रागानुगा-साधक अपना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता । स्त्री-पुरुषगत प्राकृत-रसके विप्रलंभमें (विरहमें) दुख-कष्टका अनुभव कर इसकी हेयताको अप्राकृत विप्रलंभमें आरोप कर उससे बचनेके लिये कोई संभोग-रसका आवाहन न कर बैठे, इसीलिए श्रील भक्तिविनोदजीने अपने आश्रितजनोंको खूब ही सावधान किया है । जो उनके उपदेशका उलंघन कर अन्य पथके पथिक हुए हैं, उनके प्रति हमारा कुछ भी वक्तव्य नहीं है । श्रीचैतन्य चरितामृतकी कुछ पयारें इस प्रकार हैं—

आत्म-सुख-दुखे गोपीर नाहिक विचार ।
कृष्ण-मुख-हेतु करे सब व्यवहार ॥१॥

(आ० ४।१७४)

कामेर तात्पर्य—निज संभोग केवल ।
कृष्ण सुखतात्पर्य-मात्र प्रेम त' प्रबल ॥२॥

(आ० ४।१६६)

आत्मेन्द्रिय-प्रीतिवाञ्छा तारे बलि काम ।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम ॥३॥

(आ० ४।१६५)

सर्वत्याग करि करे कृष्णोर भजन ।
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेम-सेवन ॥४॥

(आ० ४।१६६)

अतएव काम-प्रेमे बहुत अन्तर ।
काम—अंधतमः प्रेम-निर्मल भाण्कर ॥५॥

अतएव गोपीगनेर नाहि कामगंध ।
कृष्ण-सुख लागि मात्र, कृष्णसे सम्बन्ध ॥६॥

(आ० ४।१७१-१७२)

ए देह-दर्शन-स्पर्श कृष्ण-संतोषन ।
एई लागि करे अंगेर साज्जन-भूषन ॥७॥

(आ० ४।१८३)

गोपीगण करेन जवे कृष्ण दरशन ।
सुखवांछा नाहि, सुख ह्य कोटि गुन ॥८॥

(आ० ४।१८६)

ताँ सवार नाहि निज सुख-अनुरोध ।
तथापि षाड़ये सुख, पदिल-विरोध ॥९॥

(आ० ४।१८८)

आमार दर्शने कृष्ण पाइल एत सुख ।
एई सुखे गोपीर प्रकूल अङ्ग-मुख ॥१०॥

(आ० ४।१९१)

अतएव सेई सुख कृष्ण-सुख पोषे ।
एई हेतु गोपी-प्रेम नाहि काम-दोषे ॥११॥

(आ० ४।१६५)

प्रीतिविषयानन्दे तदाश्रयानन्द ।
ताँहा नाहि निज-सुख-वाँझार सम्बन्ध ॥१२॥

(आ० ४।१६६)

सखीर स्वभाव एक अकथ्य कथन ।
कृष्णसद्व निज-लीलाय नाहि सखीर मन ॥१३॥

(म० ८।२१५)

सहज गोपीर प्रेम, नहे प्राकृत-काम ।
कामक्रीड़ा-साम्ये तार नाहि काम-नाम ॥१४॥

(म० ८।२१५)

निजेन्द्रिय-सुखहेतु कामेर तात्पर्य ।
कृष्ण-सुख-तात्पर्य गोपीभाव-वर्य ॥१५॥
निजेन्द्रिय-सुखवाँझा नाहि गोपीकार ।
कृष्णो सुख दिते करे सङ्गम-विहार ॥१६॥
सेई गोपी भाषामृते यार लोभ ह्य ।
वेदधर्म त्यजि से कृष्ण के भजय ॥१७॥
रागानुगमार्गे तारै भजे जेई जन ।
सेई जन पाय ब्रजे ब्रजेन्द्रनन्दन ॥१८॥

(म० ८।२१७-२१८, २१०-२११)

ना गनि आपन-दुःख, सवे बाँझि तार सुख,
तार सुख-आमार तात्पर्य ।

मोरे यदि दिया सुख, तारै हैल महासुख
सेई दुःख-मोर सुख वर्य ॥१९॥ (अ० २०।५२)

निज-सुखे माने लाभ, पहुक तार सिरे बाज,
कृष्णेर मात्र चाहये संतोष ॥२०॥

(अ० २०।५५)

अर्थात्--गोपियों को आत्म-सुख-दुःखकी तनिक भी स्पृहा नहीं रहती; उनके सभी व्यवहार केवल कृष्णको सुखी करनेके लिए होते हैं ॥१॥ कामका तात्पर्य केवल आत्म-संभोगके लिए होता है; किन्तु प्रेममें तो कृष्ण सुखकी अभिलाषा ही प्रबल होती है ॥२॥ अपने सुख-संभोगकी वाञ्छाका नाम काम है और कृष्ण सुखकी अभिलाषाको प्रेम कहते हैं, अथवा मैं कृष्णदास हूँ इस बुद्धिके अनुगत होकर जो सकल वाञ्छाएँ होती हैं उंघं प्रेम तथा मैं फल भोक्ता हूँ इस बुद्धिसे चालित होकर जिन वाँझाओं का उद्गम होता है, उसे काम कहते हैं ॥३॥ भोक्ता अपना सर्वस्व त्यागकर कृष्णका भजन करता है; वह कृष्णकी प्रेम-सेवा करता है--केवल कृष्णके सुखके लिये ही ॥४॥ अतएव काम और प्रेममें बहुत ही अन्तर है। काम--घोर अंधकार स्वरूप है तथा प्रेम--निर्मल भाणकर स्वरूप है ॥५॥ अतएव गोपियोंमें कामका गंध तक नहीं। उनका कृष्णके साथ सम्बन्ध तो केवल कृष्णको सुख देनेके निमित्त होता है ॥६॥ हमारे देहके दर्शन और स्पर्शसे कृष्णको आनन्द होता है--ऐसा जानकर गोपियों अपने अङ्गोंका मार्जन और शृङ्गार करती हैं ॥७॥ गोपियों के कृष्ण दर्शनमें आत्म-सुखकी वाँझा नहीं रहती तथापि गोपियोंके दर्शनसे कृष्णको जितना सुख

❀ यहाँ सर्वस्व त्याग द्वारा दैहिक और मानसिक कार्योंके त्यागके लिये परामर्श नहीं दिया गया है, ये सभी कार्य यदि अपनेको कृष्णदास समझकर कृष्ण सुखके लिए किये जाय तो वे काम नहीं, बल्कि भक्ति कहलाते हैं।

प्राप्त होता है, उस सुखसे कोटिगुण सुख होता है गोपियोंको—कृष्ण दर्शनसे ॥८॥ उन्हें अपने सुख की अभिलाषा नहीं रहती, फिर भी उनका सुख उत्तरोत्तर उच्च्यल होकर बढ़ता जाता है। कहाँ गोपियाँ आर्या थीं कृष्णको सुख देने—यहाँ तो इनका ही सुख कोटिगुण अधिक बढ़ गया, अतः यहाँ विरोध उपस्थित हो जाता है ॥९॥ संशय यह होता है कि गोपियोंको भी जब कृष्ण-दर्शनसे सुख होता है तब गोपी-प्रेमको भी 'काम' क्यों न कहा जाय ? यहाँ मन्थकार इस संशयका छेदन करते हुए कहते हैं कि यहाँ ऐसे संशयकी सम्भावना नहीं, क्योंकि उनके अङ्गोंके दर्शनसे कृष्णको इतना आनन्द हुआ है—इससे मन ही मन सुख अनुभव कर उनका वदन-कमल आनन्दसे विकसित हो जाता है। यहाँ गोपियोंके मनका भाव ऐसा होता है—“हमें आनन्दित देखकर कृष्ण अधिक सुखी होते हैं सुखरां हमें अधिकतर प्रभुल्लस रहना चाहिये।” अतः गोपी-सुख कृष्ण-सुखका पोषक है। अतएव गोपी-प्रेममें आत्म सुख-वाङ्मय-रूप काम-दोष नहीं है ॥१०-११॥ प्रीतिके विषय कृष्ण हैं; उनका आनन्द ही उनकी प्रीतिके आश्रय गोपियोंका आनन्द है। इस प्रकार आनन्द-समृद्धिमें गोपियोंका आत्म-सुखकी वाङ्मयसे सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥ सखियोंकी एक अकथनीय बात यह है कि उनको कृष्णके साथ स्वयं लीला करनेमें आनन्द नहीं आता—उन्हें तो श्रीकृष्ण के साथ श्रीमती राधाकी लीला कराकर ही अपूर्व सुख प्राप्त होता है ॥१३॥ गोपियोंका प्रेम सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है। उनका प्रेम प्राकृत काम नहीं है। उसमें काम-क्रीड़ाका कुछ साम्य रहने

के कारण उनका नाम काम भी है ॥१४॥ अपने सुखकी अभिलाषा ही काम का तात्पर्य होता है, पर गोपी भावमें केवल कृष्ण-सुखकी ही अभिलाषा होती है। अतः गोपी-भाव ही श्रेष्ठ है ॥१५॥ गोपियोंमें अपने सुखकी अभिलाषा नहीं होती। उनका कृष्णके साथ मिलन और विहार तो कृष्णके सुखके लिये ही होता है ॥१६॥ गोपियोंका कृष्णके प्रति जो स्वाभाविक राग (प्रेम-भाव) होता है उस गोपी-भावामृतके लिये जिसे लोभ होता है, वह वेद धर्म (वैधी-भक्ति) को त्याग कर रागानुगा-मार्गसे कृष्णका भजन कर भ्रजमें ब्रजेन्द्रनन्दनको प्राप्त करता है ॥१७-१८॥

गोपियाँ अपने सुख-दुखकी गणना नहीं करती, उन्हें कृष्णसुखकी कामनाके अतिरिक्त अपने लिये स्वतन्त्र सुखकी कामना नहीं होती। एक गोपी कहती है—“मैं अपने दुःखोंका विचार नहीं करती। मैं तो सर्वदा उनके ही सुखोंकी अभिलाषा करती हूँ—उनका सुख ही मुझे एकमात्र इष्ट है। यदि मुझे दुःख देनेसे उन्हें महासुख हो, तो वही दुःख मेरे लिये सर्वश्रेष्ठ सुख है ॥१९॥ जो निज सुखमें ही अपनेको प्रतार्थ समझता है उनके सिर पर बज्रपात हो अर्थात् उसका सर्वनाश हो—वह तो प्राकृत संभोग परायण सहजिया अभक्त हो पड़ता है। मुझे तो एकमात्र कृष्णको आनन्द हो—यही चाहिये” ॥२०॥

वैधी भक्तिका साधन और परिचय

जिनका नैसर्गिक सम्बन्धज्ञान उदय नहीं हुआ है वे भगवत् प्रिय वस्तुका अलौकिक सौन्दर्य पहले पहल देख नहीं पाते। अतः उनके लिये विधि-मार्गमें

शास्त्रीय विचार और गुरुके उपदेश आवश्यक हैं। जो शास्त्र वाक्योंपर श्रद्धाके साथ विश्वास कर गुरु के निकट भजन-शिक्षा करते हैं और भजनके प्रभाव से अनर्थोंके हाथसे परित्राण लाभ करते हैं, उनके साधन-भक्तिके कालमें ही निष्ठा नामक एक अवस्था परिलक्षित होती है, उसीसे रुचि उत्पन्न होती है। विधिके अनुगत होकर भजन करनेके लिये श्रीरूप गोस्वामीपादने अपने उपदेशासूत्रमें कहा है—

‘स्यात् कृष्णनामचरितादि सिताप्यविद्या,
पित्तोपतत्तरसनस्य न रोचिका तु ।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु संव जुष्टा,
स्वाही क्रमाद्भवति तद्गवमूलहन्त्री ॥

(उपदेशासूत्र ७)

अर्थात्-अहो ! जिनकी जिह्वाका स्वाद पित्तके दोषसे बिगड़ा हुआ है अर्थात् जो अनादि कालसे कृष्ण-विमुख होनेके कारण अविद्या ग्रस्त हैं, उन्हें कृष्ण-नाम, गुण एवं उनकी लीला आदिका गानरूप सुमधुर मिश्री भी मीठी नहीं लगती। किन्तु यदि आदरके साथ अर्थात् श्रद्धायुक्त होकर उसी कृष्ण-नाम-चरितादिरूप मिश्रीका निरन्तर सेवन किया जाय तो क्रमशः निश्चय ही उसका आस्वादन

उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा और कृष्ण-विमुखतारूप जड़-भोग व्याधिका (पित्त रोगकी तरह) समूल नाश हो जावेगा।

रागानुगा भक्तिका कपट-अनुकरण अपराधमय है

रुचिका उदय हुआ हो, साथ ही साथ प्रवृत्ति रूप अनर्थ भी प्रबल हो, ऐसी घटना निष्कपटता अथवा निर्भयलीकत्वका बाधक है। इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

‘येषां स एव भगवान् दययेदन्तः,
सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्भयलीकम् ।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां,
नैषां ममाहमिति-धीः स्वशृगालभक्ष्ये ॥३३

(भा० २ । ७ । ८२)

नैतन्मन्त्रोद्ग नाटकमें कहा गया है—

‘बाह्यान्तरयोः तर्गं नत करा नीक्ष्यामहे वैष्णवान् ।’

जिनकी रुचि कृत्रिम होती है वे शीघ्र ही विषयों में फँस जाते हैं। तब वे अपराधको ही वैष्णव-कृत्य जानकर रागानुग बाह्य-साधन भवण-कीर्तनका

ॐ भावार्थ—भगवान् श्रीअनन्त देव जिनपर कृपा करते हैं, वे यदि निष्कपट होकर सर्वतोभावेन कायमनो-वाक्यसे उनके चरणोंमें शरणागत हो जाय तो भगवान्की दुस्तरा अलौकिकी मायाको पार कर सकते हैं। ऐसे शरणागत भक्तोंका कुत्तों और शृगालोंके भक्ष्य इस देहमें ‘मैं और मेरा’ बुद्धि नहीं रहती।

● उत्कल प्रदेशमें अगलाय दास और रूप कविराजकी तथा इनके अनुगत सम्प्रदायकी अतिवादी सम्प्रदाय कहते हैं। ये अपनेको श्रीमन्महाप्रभुका अनुगत कहते हैं, किन्तु प्रकृत-प्रस्तावमें वे महाप्रभुके अनुगत गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायसे अलग एक नवीन पंथी हैं। ये प्रसाद-सेवाके समय अपना उच्छिष्ट प्रसाद स्वयं सर्व साधारणमें वितरण करनेके कारण अतिवादी सम्प्रदाय या रूप कविराजवादी सम्प्रदायके नामसे ख्यात हैं।

आश्रय कर अपनी भक्तिलताको अपराध द्वारा उखाड़ फेंकते हैं जिससे वह सूख जाती है । सुतरां अन्तश्चिन्तित उनकी सिद्ध-देह उस समय कृष्ण सेवाके बदले कृष्णसे अतिरिक्त वस्तुका अनुशीलन करने लगती है, तब वैष्णव-विद्वेष करते-करते जीव अतिवाङ्मनों की तरह श्रीगुरु-पाद-पद्ममें अपराध कर बैठते हैं । वे शास्त्रोंकी अवज्ञा कर उच्छृंखल हो रागानुगा भक्तिकी आड़में वैधी-भक्ति की निन्दा करते हैं । इस विषयमें शास्त्रका स्पष्ट निर्देश है—

“श्रुति स्मृतिपुराणादि पंचरात्र विधि विना ।
भात्यन्तिकी हरेभक्तिकल्पात्तार्यवः केवलम् ॥”

साधन-भक्ति—वैधी और रागानुगा

साधन-भक्तिमें वैधी और रागानुगा—ये दोनों ही मार्ग अवस्थित हैं । भाव उदय होने पर वैधी-भक्तिके अधिकारी भी रागानुगा-मार्गसे भजन करना आरम्भ करते हैं । वैध-भक्त ब्रजवासियोंके भावोंसे लुब्ध होनेके पहले शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा करते हैं । उनका संदेह दूर होनेपर विचार-प्रधान मार्गके सिद्धान्तमें अधिज्ञ होकर रुचि-प्रधान मार्गमें प्रवेश करते हैं । ऐसी अवस्था आनेके पहले ही कष्टपूर्वक रुचि-प्रधान-पथमें अपनेको अवस्थित समझकर वैध-मार्ग स्थित भक्तोंके साथ यदि वे वितंडामें प्रवृत्त होते हैं तो ऐसे “रुचि-प्रधान” परिचयकी आकांक्षा करने वाले व्यक्तियोंके स्वरूपकी विभ्रान्ति हुई है—प्रेक्षा समझना चाहिये । फिर रागानुगा मार्ग के रूपानुगा आचार्य श्रीजीवपादके द्वारा रचित ‘श्री भागवत-सन्दर्भके’ सिद्धान्तोंसे विमुख होकर नाम-

श्रवण और अनर्थ निवृत्तिके बाद क्रमशः रूप-श्रवण, गुण श्रवण और लीला-श्रवणकी अवज्ञा होनेपर रागानुगा साधनका भी विरोध होना आवश्यकभावी है । क्योंकि बाह्यतः हरि-कथा-श्रवण और कीर्तन दोनों ही रागानुगा-मार्गमें अत्याज्य (न छोड़ने योग्य) कृत्य विशेष हैं ।

साधन भक्तिका क्रम

श्रीजीवपादने लिखा है,—तदेवं नामादिश्रवण भक्त्यङ्गक्रमः । तथापि प्रथमं नाम्नः श्रवणम्, अन्तः-करणशुद्धयर्थमपेक्ष्यम् । शुद्धे चान्तःकरणे रूपश्रवणेन तदुभययोग्यता भवति । सम्यगुदिते च रूपे गुणानां स्फुरणं सम्पद्यते । ततस्तेषु नामरूपगुणेषु तत्परिकरेषु च सम्यक् स्फुरितेष्वेव लीलानां स्फुरणं सुष्ठु भवती-त्यभिप्रेत्य साधनक्रमो लिखितः । एवं कीर्तन-स्मरण-योज्यम् । इहञ्च श्रवणं श्रीमहन्मुखरितं चेन्महामा-हात्म्यं जात रुचिनां परमसुखञ्च ।

(श्रीभक्तिसंदर्भ-संख्या २५६)

अर्थात् नाम-रूप-गुणादि श्रवण ही भक्ति-अङ्ग-का क्रम है । तथापि अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये पहले-पहल नाम-श्रवण ही अपेक्षीय होता है । अन्तःकरण शुद्ध होनेसे रूप-श्रवणके द्वारा हृदयमें रूपका उदय होता है, इसके द्वारा गुण-समूहकी स्फूर्ति होती है । अनन्तर नाम, रूप, गुण और तदीय परिकर समूहकी भली-भाँति स्फूर्ति होनेपर सुष्ठु रूपसे लीला-समूहका स्फुरण होता रहता है । इसी अभिप्रायसे ही साधनक्रम लिखा गया है । इसी प्रकार कीर्तन और स्मरणके विषयमें भी जानना चाहिये । यह श्रवण महाजन-मुखरित होनेपर महा-

माहात्म्य-युक्त एवं जात रुचि-व्यक्तियोंके लिये परम सुखप्रद होता है।

नाम ग्रहणके द्वारा अपने सिद्ध परिचयका उदय

जो अनर्थ-युक्त जीवको जात-रुचि समझकर उन्हें कृष्ण-नाम-रूप-गुण-परिकर-वैशिष्ट्य-लीलायुक्त रसग्रन्थ भ्रवण कराते हैं अथवा भ्रवण करते हैं, उनकी यथेच्छाचारिता अवश्य ही विशृङ्खलता उत्पन्न करती है। कृष्ण-नाम करते-करते सिद्धान्त अवगत होनेपर शुद्ध-भक्त अपना परिचय अच्छी तरह जान

सकते हैं। नाम-भजनमें नाम उच्चारणकारी अपने अनुकूल या प्रतिकूल विचारसे युक्त-वैराग्य-विशिष्ट गृहस्थ अथवा पारमहंस्य धर्म—इनमेंसे कोई एकको अपनी सुविधानुसार ग्रहण करेंगे। इसमें किसीको बाधा देना उचित नहीं। किन्तु फिर भी जड़-गृहमें आसक्ति अथवा स्त्रैण होना भक्तोंके लिये सुविधा-जनक नहीं और परमहंस होकर भी फल्गु (शुष्क) वैराग्यका आश्रय करनेसे भजनमें विघ्न पड़ता है।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाव श्रीलक्ष्मणदास

चेतावनी

जा दिन मन पंझी उड़ि जैहै ।
 ता दिन तेरे तन-तरुवर के, सबै पात भरि जैहै ॥
 या देही कौ गरन न करिबै, एषार-काग-गिध खैहैं ।
 तीननि में तन कृमि, के बिप्रा, के हूँ खाक बहैहैं ॥
 कँह वह नीर, कड़ाँ वह सोसा, कँह रंग-रूप दिखैहैं ।
 जिन लोगनि सौं नेह करत है, तेई देखि धिनैहैं ॥
 घर के कहत मबारे काढ़ी, भूत होइ धरि खैहैं ।
 जिन पुत्रनिहि बहुत प्रतिपाल्यो, देवी-देव मनैहैं ॥
 तेई लै खोपरी बाँस दै, सीस फोरि बिखरैहैं ।
 अजहूँ मूढ़ करौ सतसङ्गति, संतनि में कछु पैहैं ॥
 नर-बपु धारि नाहिं जन हरि कौं, जम की मार सो खैहैं ।
 सूरदास भगवत-भजन धिनु वृथा सु जनम गँवैहैं ॥

—सूरदास

श्रीचैतन्य-शिखामृत

प्रथम-वृष्टि-सप्तमधारा

प्रयोजन-तत्व

भक्ति-साधनसे क्रमशः अनर्थ दूर होने पर श्रीकृष्ण के प्रति प्रगाढ़ रति उदित होती है। यही रति या भाव पूर्णविकशित अवस्थामें प्रेम कहलाता है। यही प्रेम जीवमात्रका चरम प्रयोजन है। श्रीचैतन्यचरिता-मृतमें श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजी सनातन गोस्वामी को उपदेश कर रहे हैं—

“एवे सुन भक्ति फल प्रेम प्रयोजन ।
याहार श्रवणे ह्य भक्ति रस ज्ञान ॥
कृष्णे रति गाढ़ हैले प्रेम अनिधान ।
कृष्णभक्ति रसेर सेई स्थायी भाव नाभ ॥”

श्रीमन्महा प्रभुजीके इस उपदेशका तात्पर्य यह है कि भक्तिको सबसे पहले साधन अवस्थामें “भक्ति” कहा जाता है; तत्परचात् साधनका फल प्रकाशित होने पर वह भक्ति भावानस्थाको प्राप्त होती है तथा यही भक्ति अपनी पूर्ण विकशित अवस्थामें प्रेमरूप धारण करती है। साधना अवस्थामें भक्ति भाव,

रति या प्रेमांकुर तकका रूप धारण कर सकती है। वैधी और रागानुगा साधनोंमें अन्तर यह है कि वैधी भक्ति कुछ विलम्बसे भावावस्थाको प्राप्त होती है। परन्तु रागानुगा भक्ति अतिशीघ्र ही भावावस्थाको प्राप्त हो जाती है २। रागानुगा भक्तिके हृदयमें निष्ठाको क्रोड़ीभूत करके श्रद्धा रुचिके रूपमें उदित होती है। अतएव रागानुगा भक्तिमें श्रद्धाको भाव बननेमें देर नहीं लगती ३।

भावका लक्षण

साधकके हृदयमें जिस समय भावका उदय होता है, उस समय निम्नलिखित लक्षण देखा जाता है। श्रीमन्महाप्रभुजी कहते हैं—

“एद नव श्रीशङ्कर तार भित्ते ह्य १४
माहृत क्षोभे तार क्षोभ नाहि ह्य ॥
कृष्ण सम्बन्ध विना व्यर्थ काल नाहि जाय ।
भुक्ति सिद्धि इन्द्रियाथं तारे नाहि भाय ॥

१. परस्परानुकुर्वन् पावन् भगवद्वशः । मिथो रतिर्मियस्तुष्टिर्निवृत्तिमिथ आत्मनः ॥
स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽधीषहरं हरिम् । भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकात्तनुम् ॥
(भा० ११।३।३१-३२)
२. शृण्वतां गृणतां वीर्यन्युद्दामानि हरेर्महः । यथा सूजातया भक्त्या शुष्येवन्नात्मा व्रतादिभिः ॥
(भा० ६।३।३२)
३. केवलेन हि भावेन गोप्या गावो नगा मृगाः । येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥
यं न धोमेन सांख्येन दानव्रततपोऽथैरैः । व्याख्या त्वाध्याय सन्ध्यास्तौ प्राप्नुयाद यत्नवानपि ॥
(भा० ११।१२।७-८)
४. क्वचिद्रुन्त्यच्युतचिन्तया क्वचित् हसन्ति निन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्तिगायन्त्यनुशीलयन्त्यर्जं भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निवृता ॥ (भा० ११।३।३३)

सर्वोत्तम आपनाके हीन करि माने ।
कृष्ण कृपा करिवेन हृद करि जाने ॥
समुत्कंठा ह्य सदा लालसा प्रधान ।
नाम गाने सदा हृदि लय कृष्ण नाम ॥
कृष्ण गुणाख्याने करे सर्वदा आसक्ति ।
कृष्ण लीलास्थाने करे सर्वदा वसति ॥”

प्रेमका लक्षण

पञ्चम वृष्टिकी आलोचना करनेसे श्रीमन्महाप्रभुके इन उपदेशोंकी विस्तारित व्याख्या पायी जायगी । प्रेमलक्षण अतिशय दुर्लभ है । इसके सम्बन्धमें श्रीमन्महाप्रभुजीके वचन हैं—

“कृष्णे रतिर विल्ल एइ केल विवरण ।
कृष्ण प्रेमेर विल्ल एवे मुन सनातन ॥
यार चित्त कृष्ण प्रेमा करये उदय ।
तार वाक्य क्रिया, मुद्रा विज्ञे ना बुझय ॥”

प्रेम पाँच प्रकारका होता है—शान्त, दास्य, सख्य, भस्सल और मधुर । मधुर प्रेम और मधुर रस सबसे श्रेष्ठ है । मधुररसमें कृष्णमाधुर्य चरम सीमा तक पहुँच गया है (ख) । मधुर रसमें स्थित भक्त प्रेमकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुए होते हैं (ग) । ब्रज

के मधुर रसमें सम्पूर्ण चौसठों गुणोंका चरम प्रकाश कृष्णमें लक्षित होता है । उसी प्रकार ब्रजभक्तोंमें भी अनन्त माधुर्य प्रकाशित हो पड़ता है । श्रीमन्महाप्रभुजीने भक्तोंमें चूड़ामणि स्वरूप श्रीमती राधिकाके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—

“अनन्त गुण श्रीराधिकार पचीण प्रधान ।
जेइ गुणेर वश हय कृष्ण भगवान् ॥”

जो परम सौभाग्यवश मधुर रसके अधिकारी हो गये हैं, केवल वे ही इस रसका आस्वादन कर पाते हैं (घ) । युक्ति और विचार आदिके द्वारा इसे किसीको भी समझाया नहीं जा सकता है । अतएव श्रीमन्महाप्रभुजीने कहा है—

“एइ रस आस्वाद नाहि भ्रमवतेर गणे ।
कृष्णभक्तगण करे रस आस्वादन ॥”

इन उपदेशोंके पश्चात् श्रीमन्महाप्रभुजीने सनातन गोस्वामीको अंतमें प्रेम-प्राप्तिके प्रतिकूल शुष्क वैराग्यको छोड़ने तथा प्रेम-प्राप्तिके अनुकूल युक्त-वैराग्य ग्रहण करनेके लिए उपदेश दिया है—

“युक्त वैराग्यस्थिति सब सिखाइल ।
शुष्कवैराग्यजान सब निवेधिल ॥”

(ख) नृणां हि श्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप । अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥

कामःक्रोधं भयं स्नेहमंभयं सौहृदमेव च । नित्यं हरीविदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥

(भा० १०।१।११-१२)

(ग) मयि निर्वण्डहृदयाः साधवः समदर्शनाः । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पति यथा ॥

(भा० १।४।४८)

(घ) स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमन्वपि । इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः ॥

(भा० ४।२।४६)

फल्गुवैराग्य

युक्ति और युक्तिके अनुकूल वेद-वाक्योंके लक्षणा-अर्थके द्वारा कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि 'मैं ब्रह्म हूँ, किन्तु प्रपञ्चमें फँस जानेके कारण ब्रह्म-अनुभवसे दूर हो पड़ा हूँ । प्रपञ्चसे मुक्त होनेका उपाय क्या है ? मनुष्य-शरीर प्रपञ्च है, गृह भी प्रपञ्च है, स्त्री-पुत्र भी प्रपञ्च है; आहार आदि सब कुछ प्रपञ्च ही है । इस प्रपञ्चसे किस प्रकार छुटकारा मिले ? इस भावनासे अस्त-व्यस्त होकर शरीरमें भस्म रसाकर कौपीन आदि द्वारा उसे ढक लेते हैं, सूखे चने आदि चबाकर, स्त्री-पुत्र आदिका परित्याग कर अपनेको त्यागी कहलानेके लिये गृह त्याग करके वनमें विचरण करते हैं या मठमें वास करते हैं । ऐसा करनेसे लाभ क्या होगा—इस पर भलीभाँति विचार किये बिना ही केवल मात्र शुद्धज्ञान प्राप्तकी भावना करते हैं । परन्तु हरि सम्बन्धसे ही प्रपञ्चसे छुटकारा मिल सकता है—इस विषयसे सर्वथा उदासीन रहते हैं । पाप भी गया, पुण्य भी गया, मैं और मेरा सभी कुछ चला गया; परन्तु लाभ क्या हुआ ? इस पर तनिक भी विचार नहीं किया । वेदान्तके अधिकरणोंके साथ अपना समय निताने लगे । मृत्यु हुई, उनके मतके दो-चार लोग उपस्थित

हुए तथा उनके मस्तक पर नारियल तोड़ कर भूमि पर रख दिये । परन्तु इससे हुआ क्या ? हरि तो मिले नहीं । उनका ब्रह्म होना वहीं तक रहा । ऐसा न कर यदि वे देहमें, गृहमें, भोजनमें, शयनमें, काल में और दिशाओंमें हरि-सम्बन्ध स्थापन कर भगवदनुशीलन करते-करते भक्तिकी वृद्धि करते तो प्रेम रूपी चरम फलको अवश्य ही प्राप्त करते × । ऐसे वैराग्य का नाम फल्गु-वैराग्य है । श्रीमन्महाप्रभुजीने ऐसे वैराग्यका निषेध करके सनातनजीको युक्त वैराग्यकी शिक्षा दी है । श्रीरघुनाथदासको भी उन्होंने युक्त वैराग्यकी ही शिक्षा दी है—

स्थिर हृदया घरे जाह ना ह्यो वातुल ।
क्रमे-क्रमे पाय लोक भव सिन्धुकुल ॥
मकंठ वैराग्य ना कर लोक देखाइया ।
यथा योग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हन्वा ।
अन्तरे निष्ठा कर बाह्ये लोक-व्यवहार ।
अचिराते कृष्ण तोमाय करिवन उडार ॥

(चतन्यचरितामृत म० १६।२३७-२३९)

अर्थात् जब रघुनाथदासने बचपनमें ही प्रथम बार घरसे भागकर श्रीमन्महाप्रभुके भीचरणकमलोंके निकट उपस्थित होकर उनसे उनके निकट ही रखने की प्रार्थना की, तब श्रीमन्महाप्रभुने बड़े प्यारसे उसके

× जातश्रद्धो मत्कथामु निविष्णुः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्हृदिश्चयः । जुषमानश्च तान् कामान् दुःखोदकांश्च गर्हयन् ॥

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजते मां सकृन्मुने । कामा हृदया नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥

भिद्यते हृदयमन्विद्विद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥

(भा० ११।२०।२७-३०)

सिर पर अपना हस्त-कमल फेरते हुए कहा—रघो ! अभी चित्तको स्थिर कर घर लौट जाओ । व्यस्त होनेकी आवश्यकता नहीं है । घर पर रह कर ही भक्तिका साधन करो । ऐसा करने से क्रमशः भवसागरको पार किया जा सकता है । याद रखो, लोगों को दिखलाकर मर्कट-वैराग्य (बन्दर सा दिखावटी वैराग्य) करनेकी आवश्यकता नहीं, उससे कुछ भी लाभ नहीं; भजनके अनुकूल जीवन-निर्वाहके लिये आवश्यक मात्रामें यथायोग्य विषयोंको अनासक्त होकर भोगो; साथ ही भीतर-ही भीतर निष्ठा रखो तथा बाहरमें लोक-व्यवहार करते रहो । ऐसा करनेसे थोड़े ही दिनोंमें करुणासागर कृष्ण तुम्हारा अवश्य ही उद्धार कर देंगे ।

स्वच्छन्दरूपमें जीविका निर्वाह करनेके लिये घरमें स्त्री-पुत्रके साथ अनासक्त होकर विषयोंको स्वीकार करते हुए आन्तरनिष्ठापूर्वक भजन करनेसे धीरे-धीरे प्रपंच दूर हो जाता है, उस समय आत्म भक्तिके बलसे बलवान होकर भगवत - सम्बन्धमें स्थित हो जाता है । ❀ यदि इस क्रम-पथको छोड़कर कोई अकस्मात् मर्कट वैराग्यका अवलम्बन कर वैरागी बन जाय तो उसकी उन्नति नहीं होती, बल्कि वह धीरे-धीरे परमार्थके पथसे सदाके लिये दूर हो जाता है ।” यथायोग्य विषय स्वीकार करो”—इस आज्ञाका तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय-प्रीतिके लिये

विषयोंको ग्रहण नहीं करना चाहिये, बल्कि कृष्णके साथ आत्माका सम्बन्ध स्थापन करनेके लिये जितनी आवश्यकता हो उतने ही मात्रामें विषयोंको ग्रहण करो । ऐसा करनेसे कुछ ही दिनोंमें आत्म-प्रसादरूप फलको प्रदानकर विषय स्वयं ही प्रपंचातीत आत्माको छोड़ देंगे । घर-बार, शरीर पुत्र-परिवार तथा समाज आदिको कृष्ण-सम्बन्धी जाननेसे वे सभी युक्त वैराग्यके उपकरण हो सकते हैं । अन्तर-निष्ठा होनेसे ऐसा सहज ही संभव होता है । बाह्य-निष्ठा केवल लोक व्यवहारके लिये होना चाहिये । निष्कपट रूपमें अन्तर निष्ठा होने पर भव-बन्धन और प्रपंच-सम्बन्ध—ये दोनों ही शीघ्र ही दूर हो जाते हैं । भक्ति जिस परिमाणमें शुद्धरूपमें उदित होगी, उसी परिमाणमें शुद्धज्ञान और शुद्ध वैराग्य भी अवश्य ही बढ़ेंगे ।

सरल भक्त जीवनमें केवल कृष्णानामाश्रय ही सर्वोत्तम साधन है (क) । श्रीमन्महाप्रभुजी सनातन गोस्वामीको इस विषयमें शिक्षा देते हैं—

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नववधि भक्ति ।
कृष्ण प्रेम कृष्ण दिते धरे महाशक्ति ॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नाम संकीर्तन ।
निरपराधे नाम लइले ह्य प्रेमधन ॥

(श्रीचतुर्विधविरितामृत-अन्य ४।७-०७१)

❀ धर्मस्य ह्यापवर्गस्य नार्थोऽर्थायोपकल्प्यते । नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥

कामस्य नेन्द्रिय प्रीतिर्लाभो जीवेत यावता । जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यञ्चेहकर्मभिः ॥ (सा १।२।१६-१०)

(क) एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् । योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

[भा. २।१।११]

और भी कहते हैं—

कुबुद्धि छाड़िया कर श्रवण कीर्तन ।
 अचिराते पावे तबे कृष्ण प्रेमधन ॥
 नीच जाति नहे कृष्णभजने अयोग्य । (क)
 सत्कुल विप्र नहे भजनेर योग्य ॥
 येइ भजे सेइ श्रेष्ठ अमक्त हीन छार ।
 कृष्णभजने नाहि जाति वृत्तादि विचार ॥
 दीनेर अधिक दया करेन भगवान ।
 कुलीन पण्डित धनीर बड़ अभिमान ॥

(चैतन्यचरितामृत ग्रन्थ ४।१५-१६)

[भगवद्भजनके जितने अङ्ग हैं, उन सबमें भक्तिरूप नौ अङ्ग प्रधान हैं। ये नौ अङ्ग हैं श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। नवपाभक्तिका आथना नौ अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका आचरण करनेसे भी कृष्ण प्रेमकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु उन नौ अङ्गोंमें भी श्रीनामका संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है। यदि निरपराध होकर हरिनामका कीर्तन किया जाय तो अल्प समयमें ही श्रीनामदेव कृपा पूर्वक प्रेमधनको प्रदान करते हैं। अतएव कुबुद्धि अर्थात् अन्याभिलाष, ज्ञान, कर्म आदिका सर्वतोभावेन परित्याग कर शुद्धरूपसे अर्थात् शुद्धभक्तोंके आनुगत्य में हरिनामका श्रवण और कीर्तन करनेसे शीघ्र ही प्रेम-धनकी प्राप्ति होती है। कृष्णभजनमें जीवमात्र का अधिकार है। उसमें छोटे-बड़े, ऊँच-नीचका कोई भी भेद नहीं। न तो नीच जातिमें उत्पन्न व्यक्ति

कृष्णभजनके लिये अयोग्य है और न सत्कुलमें उत्पन्न विप्र कृष्ण भजनके लिये योग्य है। बल्कि जो भजन करता है, वही श्रेष्ठ है, चाहे वह जिस किसी भी कुलमें पैदा हुआ क्यों न हो। तथा उच्च वंशमें पैदा हुआ विप्र भी भजन नहीं करनेसे सबसे हीन और घृणित है। कुलीन, पण्डित और धनियों को बड़ा अभिमान होता है। दीन व्यक्तियोंमें स्वभाविकरूपमें नम्रता होती है, इसलिये उन पर पर भगवान अधिक दया करते हैं।]

श्रीमन्महाप्रभुके बचनोंका सारार्थ यह है कि जभी भगवत् विषयमें अद्धा हो जाय, तभी सत्संगमें रह कर हरिनाम ग्रहण करो। कर्म और ज्ञानकी चेष्टाओं द्वारा कदापि अपने चिन्तको चंचल न करो। संख्या-पूर्वक "हरिकृष्ण" आदि सोलह नामोंका निरन्तर कीर्तन करनेका प्रयत्न करना चाहिये। शरीर, गृह और समाजको श्रीनाम अनुशीलनके अनुकूल करके उन-उन पदार्थोंका संग्रह और उनकी रक्षा आदिके लिये जितनी आवश्यकता हो उतनी ही चेष्टा करनी चाहिये और जो कुछ भी करे कृष्णको अर्पण करके ही करनी चाहिये तथा उन-उन विषयोंमें अति प्रयास नहीं करना चाहिये। इन्द्रिय-प्रिय भोज्य पदार्थोंका तथा अन्यान्य विषयोंका व्यवहार नहीं करना चाहिये। जीवका शुद्धज्ञान और अनुकूल रागादि इन्द्रियाँ एवं मन आदि अन्तरेन्द्रियाँ कहीं नष्ट या विकृत न हो जाय, इस बातको ध्यानमें रख कर प्राणवृत्तिरूप परिमित सात्त्विक आहार द्वारा देहकी रक्षा करनी चाहिये (ख)। न तो अधिक

[क] धिक्जन्म न छिवृद्व्यत्तद्धिम् व्रतम् धिक्कुल धिक्क्रियादास्यं विमुक्ता ये त्ववोक्षजे ॥ भा. १०।२०।३२]

[ख] प्राणवृत्त्या तु सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः । ज्ञानं यथा न नश्येत् नावकीर्येत वाङ्मनः ॥ [भा. ११।७।३२]

पथ्यंपूतमनायास्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम् । राजसञ्चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसञ्चार्त्तिदाऽशुचिः ॥

यनंच सात्त्विको वांसो ग्राम्यो राजस उच्यते । तामसं श्रुत्तददनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम् ॥ (भा. ११।२।१२४)

चेष्टा करनी पड़े और न अधिक कष्टसाध्य हो ऐसे निर्जन स्थानमें रहना चाहिये । ऐसे समाजमें रहना चाहिये जो कृष्णभक्तिके प्रतिकूल न हो तथा उस समाजकी उन्नतिके लिये प्रयत्न करना चाहिये । ऐसा करनेका तात्पर्य यह है कि ऐसे कार्योंसे निश्चिन्त होकर निर्जनमें दृढ़ यत्नके साथ भजन किया जा सके (ख) । स्त्रीरुद्ध और स्त्रीसङ्गीका सङ्ग सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये । अभक्तोंका सङ्ग न हो जाय—इस विषयमें सर्वदा सतर्क रहना चाहिए (ग) । दूसरोंकी निन्दा अथवा परचर्चाका सर्वतोभावेन परित्याग करना चाहिये । कपटतासे दूर रहना चाहिये तथा अपनेको अत्यन्त दीन हीन समझना चाहिये । तितिक्षापूर्ण हृदयसे समस्त विषयोंको सहकर जगतका यथार्थ उपकार करना चाहिये । अपने वर्ण, धन, जन, रूप, बल, पार्थिव विद्या और पद आदि किसी प्रकारका अभिमान नहीं रखना चाहिये । सभी लोगोंका यथायोग्य सम्मान

करना चाहिये (घ) । इस प्रकार जीवनमें निरन्तर भावपूर्ण होकर गद्गद् चित्तसे हरिनाम करना चाहिये । इसीसे कृष्णकी कृपासे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति होती है । ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी तुम्हारे किङ्करके रूपमें तुम्हारी सेवा करने के लिये सर्वदा प्रतीक्षा करेंगे (च) । यदि हृदयके अन्दर कुछ-कुछ काम भी हो तो उसे दीनताके साथ घृणा-पूर्वक स्वीकार करते-करते निष्कपट होकर भजन करते रहना चाहिये । थोड़े ही दिनोंमें करुणामय भगवान तुम्हारे हृदयमें विराजमान होकर तुम्हारे हृदयको निष्काम कर तुम्हारे प्रेमको स्वीकार कर लेंगे (छ) । श्रीमन्महाप्रभु द्वारा प्रचारित धर्ममें दो बातें विशेष हैं—(१) रुचिपूर्वक हरिनाम करना और (२) जीवोंपर दया करना । ये दोनों बातें जिस व्यक्तिमें जितने ही अधिक परिमाणमें रहती हैं, वह उतना ही उत्तम वैष्णव हैं (ज) । दूसरे-दूसरे सद्गुणोंको प्राप्त करनेके लिये पृथक्-रूपमें कोई चेष्टा करनेकी आवश्यक

(ख) न यत्र वंकुठकथासुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः ।

न यत्र यज्ञशमखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥ (भा० ५।२।१२५)

(ग) गच्छन्वो जुषता जीष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोमुग्धः । श्रीमदादाभिजात्प्यादिव्यत्र खीचुत्तमात्मनः ॥

हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दोषैरजितात्मभिः । मन्यमानैरियं देहमजरा मृत्युनखरम् ॥ (भ. १०।१०। ६-७)

[घ] पृणावपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुता । अमागिता मानदेग कीर्तनीयः सदा हरिः ॥ [श्रीशिक्षाष्टकम्]

(च) भक्तिमत्स्थि स्थिरतरा भगवन् यदि स्याद्देन नः फलति दिव्यकिशोर मूर्तिः ।

मुक्तिः स्वयं मुकुलिभाङ्गलिः सेवतेऽस्मान् धर्मार्थकामगतयः समय प्रतीक्षाः ॥ कृष्णकर्णामृतम् ।

(छ) शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्य श्रवणकीर्तनः । ह्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम् ॥

(भा० १।२।१७)

(ज) सोऽभिवन्देऽचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि । तद्भक्तेषु च सीहार्दं भ्रुतेषु च दयां पराम् ॥

(भागवत)

शकता नहीं है। भक्तमें समस्त गुणोंका उदय अपने आप होता है (घ)। भक्तजन स्वभावसे ही उत्तम श्रेय का आचरण करते हैं तथा श्रेयजनक आचरणोंसे प्रसन्न होते हैं (ङ)। कृष्णका दास हो जाने पर जीवों को किसी प्रकारका दुःख या कष्ट नहीं होता (च)। गुरु और आत्मीयवर्ग किस समय सङ्गके योग्य होते हैं—इस विषयमें सतर्क रहना आवश्यक है (छ)। भावुक भक्तका जीवन अत्यन्त पवित्र होता है। उनकी रुचि सर्वदा विशुद्ध होती है (ज)। इन सब शिक्षाओंका संचिप्रसार श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको श्रीमन्महाप्रभुजीने श्रीचैतन्यचरितामृत अन्त्य खण्ड छठे परिच्छेदमें इस प्रकार बतलाया है—

‘हांचि महाप्रभु रघुनाथेरे बलिल ।
तोमार उपदेष्टा करि स्वरूपेरे दिल ॥
साध्य साधन तत्त्व सिद्ध इहार स्थाने ।
आमि यत नाहि जानि इह तत जाने ॥
तथापि आमार आज्ञाय यदि श्रद्धा ह्य ।
मामार एइ नानभे तुगि करिह गिरजम ॥
प्राप्तवाया ना सुनिबे प्राभ्यवाता न कहिबे ।
भाल ना खाइबे भाल ना परिवे ।
अमानी मानद कृष्णनाम सदा लबे ।

ब्रजे राधा कृष्णसेवा मानसे करिबे ॥
एइ त संक्षेपे आमि कैल उपदेश ।
स्वरूपेरे ठांइ इहार पावे सविशेष ॥

इस उपदेशमें महाप्रभुजीने अत्यन्त गूढरूपमें श्रीदास गोस्वामीको अष्टकाल-भजन प्रणाली बतलाया था। इसी ग्रन्थमें अन्यत्र श्रीस्वरूप दामोदरके निकट से प्राप्त सविशेष उपदेश दिया जायेगा। भक्तगण उसे ग्रहण करनेके लिये योग्य अधिकारी होनेके लिये प्रयास करें।

भावभक्तिको लक्ष्य कर वैध भक्तिकी जो उत्तम और एकान्त भावसे अनुशीलनकी बुद्धि होती है, और प्रेमभक्तिके आविर्भावको लक्ष्यकर भावभक्तिकी जो निर्बन्धित अनुशीलनकी बुद्धि होती है, उसे निर्बन्धिनी मति कहते हैं। ऐसी निर्बन्धिनी मति रहनेसे अत्यन्त शीघ्र ही भक्ति सिद्धि होती है। इसी का दूसरा नाम उपयुक्त यत्नाग्रह है (झ)। साधकगण सर्वप्रथम निर्बन्धिनी मतिका आश्रय ग्रहण करेंगे। यत्नाग्रह परित्याग करके इस विषयमें उदासीन नहीं होंगे।

—जगद्गुरु श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर

(घ) यस्यास्ति भक्तिभंगवत्यकिञ्चना सर्वगुणैस्तत्र समासते सूरः ।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥ (भा० ५।१८।१२)

(ङ) एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु । प्राणैरर्थेधिषा वाचा श्रेय आचरणं सदा ॥

(भा० १०।१२।२४)

(च) तावद्वाराणादयः स्नेनास्तावत् कारागृहं गृहम् । तावन्मोहाङ्घ्रिनिगुडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

(भा० १८।१४।३४)

(छ) गुरु न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न सस्याज्जनी न सा स्यात् ।

दैवं न तत् स्यात् न पतिश्च स स्यात् न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ॥ (भा० ५।५।१८)

शारीरा मानसा दिव्या बंधासे ये च मानुषाः । भौतिकाश्च कथं क्लेशा वाधेरत् हरिसंश्रयम् ॥

(भा० ३।२।२४)

(ज) अर्थेन्द्रियाराम स गोष्ठयतृष्णया तन् सम्मतानामपरिश्रहेण च ।

विविक्तरुच्या परितोष आत्मनि विना हरेर्गुण पीयूषपानात् ॥ (भा० ४।२।२१)

(झ) सद्धर्मस्यावबोधाय येषां निर्बन्धिनी मतिः । अचिरादेव सर्वार्थसिद्ध्यत्येषामभीप्सितः ॥

सन्दर्भ-सार

[दार्शनिक-चूड़ामणि सिद्धान्त-सम्राट् परमरसिक श्रीरूपानुग आचार्यवर श्रीजीव गोस्वामीका नाम श्रीगौड़ीय वैष्णव-इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें देदीप्यमान है । इन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं, जो गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदायकी महामूल्य निधियाँ हैं । इनमेंसे षट्-सन्दर्भ उनकी सर्वोत्तम कृति मानी जाती हैं । षट्-सन्दर्भके अन्तर्गत तत्त्व-सन्दर्भ, परमात्म-सन्दर्भ, भगवत-सन्दर्भ, कृष्ण-सन्दर्भ, भक्ति-सन्दर्भ और प्रीति-सन्दर्भ—ये छः सन्दर्भ हैं । इस ग्रन्थमें सर्वत्र ही श्रीजीव गोस्वामीकी अद्वितीय सुसिद्धान्तपूर्ण-पाण्डित्य - प्रतिभावयुक्त प्रसन्न गंभीर प्रेमभक्ति-समुज्ज्वल श्रीमूर्तिका दर्शन किया जा सकता है । वर्तमान लेखमालामें विद्वान् लेखक महोदयने उक्त अतिशय गंभीर पाण्डित्यपूर्ण-दार्शनिक संस्कृत ग्रन्थ-रत्नका सर्व-साधारणोपयोगी भाषामें संक्षेप-सार-तात्पर्य संग्रह किया है । भगवत्-त्वपिपासु भगवद्भक्तोंके लिये यह परम आदरकी वस्तु होगी—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । —सम्पादक]

तत्त्व-संदर्भ

श्रीमन्मध्वाचार्य एवं श्रीरामानुजाचार्य आदि प्राचीन वैष्णवोंने श्रीभगवत् तत्त्वके सम्बन्धमें अनेकानेक ग्रन्थोंकी रचनाएँ की हैं । उन सभी ग्रन्थोंका सार संकलन कर श्रीरूप-सनातन गोस्वामी-पादके प्रिय वन्धु श्रीगोपाल भट्ट गोस्वामीने एक ग्रन्थ लिखा था । श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा संकलित वह ग्रन्थ कहीं पर प्रामषद् था, कहीं पर असम्पद् भी था, कहीं छिन्न-भिन्न लेख के रूपमें भी था । श्रीजीव गोस्वामीने उक्त ग्रन्थमें लिखित विषयोंकी पर्यालोचना करके क्रमानुसार विषयोंको सजाकर उसे छः सन्दर्भोंमें विभक्त कर लिखा । ये छः सन्दर्भ हैं—तत्त्व, परमात्म, भगवत्, कृष्ण, भक्ति और प्रीति । श्रीमद्भागवतके परम निगूढ़ सिद्धान्तोंको विस्तारपूर्वक प्रकाश करना ही इस ग्रन्थ-रचनाका उद्देश्य है । 'सन्दर्भ' शब्दका अर्थ है—रहस्य अर्थात् गोपनीय विषय । श्रीमद्भागवतके परम

निगूढ़ रहस्योंको इस ग्रन्थमें सम्बन्ध, अभिधेय और प्रयोजन-विचार-मालाके रूपमें गूँथा गया है । इसलिये ये सब सन्दर्भग्रन्थ एक साथ मिलकर भागवत-सन्दर्भ या षट्-सन्दर्भ कहलाते हैं । इनमेंसे सर्वप्रथम तत्त्व-सन्दर्भका सार-तात्पर्य दिया जा रहा है ।

अतिशय बुद्धिमान और न्यायव्यवहारिक विषयोंमें सुविज्ञ होने पर भी मनुष्य मात्रकी बुद्धि भ्रम, प्रमाद, करुणापाटव और विपलिप्सा—इन चार प्रकारके दोषोंसे दुष्ट होती है । भ्रमका अर्थ है—मिथ्याज्ञान या मिथ्या मति । अर्थात् एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका ज्ञान होना ही भ्रम है । भ्रम दो प्रकारका होता है—विपर्यास और संशय । देहमें आत्मबुद्धि होना अर्थात् यह भौतिक शरीर ही "आत्मा" या "मैं हूँ" ऐसा भ्रम ही "विपर्यास" कहलाता है ।

और यह कुत्ता है या भेड़िया—ऐसा भ्रम ही “संशय” कहलाता है। दूरत्व, मोह, भय एवं पित्त आदि रोगोंके कारण भ्रम होता है। दूरीके कारण सूर्य और चन्द्रको छोछे-छोटे थालोंकी भाँति अति-शय जुद्र देखा जाता है। आत्मा अविकारी और नित्यवस्तु है, परन्तु शरीरको ही आत्मा माननेसे मोहवशतः “मैं मोटा हूँ”, “मैं दुबला-पतला हूँ” ऐसा कहा जाता है। डरके मारे अन्धकारपूर्ण रात्रिमें रस्सीको सर्प या शाखा-पल्लव-रहित वृक्षको भूत होनेका बुद्धिभ्रम होता है। पित्त रोग-ग्रस्त व्यक्ति सबकुछ पीला देखता है, उसे मिठी वस्तुएँ भी कड़ुबी लगती हैं।

प्रमाद—अर्थात् अन्यमनस्कता। किसी कारणसे चित्त चंचल होनेपर किसी विषयमें मन-स्थिर नहीं रहनेसे प्रमादकी उत्पत्ति होती है।

विप्रलिप्सा—चंचना करने या ठगनेकी चेष्टाको विप्रलिप्सा कहते हैं। संकीर्ण-स्वार्थ-सिद्धिके लिये लिये दूसरोंको ठगकर अपनी सुख-सुबिधा प्राप्त करने की इच्छा ही विप्रलिप्सा है। करणापाटव—इन्द्रियोंकी अपटुता। मनोयोग रहनेपर भी किसी वस्तुको उत्तम रूपसे अनुभव करनेका अभाव ही “करणापाटव” दोष है।

उपयुक्त दोषोंकी सर्वदा संभावनाके कारण किसी निर्दोष प्रमाणका अवलम्बन नहीं करनेसे वास्तव वस्तुका निमूल विचार होना सुकठिन है। यथार्थ ज्ञानका नाम प्रमा है। जिसके द्वारा प्रमा उन्पन्न होती है, उसे प्रमाण कहते हैं। आमके फल को देखकर आमके सम्बन्धमें यथार्थ ज्ञान होता है,

परन्तु रज्जुमें सर्प बोध होनेपर उसे प्रमा नहीं कहेंगे, उसे तो भ्रमज्ञान कहते हैं। प्रमाणके सम्बन्धमें दर्शनिक मतवादियोंमें अनेक मतभेद देखा जाता है। चर्वाकके मतानुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। बौद्धमतमें दो प्रमाण माने गये हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। संख्यमतमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण ग्रहण किये गये हैं। न्याय-दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द—ये चार प्रमाण स्वीकृत हैं। मीमांसक प्रभाकरके मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति—ये पाँच प्रमाण अङ्गीकार किये गये हैं। पौराणिकोंने पूर्वोक्त पाँच प्रमाणोंके अतिरिक्त अनुपलब्धि, संशय और ऐतिह्य—ये तीन अधिक, कुल मिलाकर आठ प्रमाण स्वीकार किया है। ग्रन्थकार श्रीजीव गोस्वामीने स्वरचित “सर्वसम्वादिनी” नामक ग्रन्थमें दस प्रमाणोंका उल्लेख कर उनमेंसे ‘शब्द’ प्रमाणको ही एकमात्र यथार्थ प्रमाण लिख किया है।

दस प्रमाणोंका विवेचन इस प्रकार है—

प्रत्यक्ष—नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियोंकी अपटुता, चित्तका अस्थिरत्व, दृश्य वस्तुकी सूक्ष्मता आदिके कारण प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रमादि दोषोंसे युक्त है।

अनुमान—पहले कोई वस्तु प्रत्यक्ष होने पर पीछेसे दूसरी वस्तुओंका ज्ञान ही अनुमान कहलाता है। जैसे पर्वतपर धूम देखकर वहाँ अग्नि होनेका अनुमान लगाया जाता है। किन्तु कभी-कभी वाष्प भी धूमके समान दीखलायी पड़ने पर उसे भ्रमसे

धुँवा मान लिया जाता है। अतः यह प्रमाण भी दोषयुक्त है।

शब्द—आप्त वाक्यको शब्द कहते हैं। आप्त कहनेसे भ्रमादि चारों दोषोंसे सर्वथा रहित व्यक्तिका बोध होता है। किसी भी प्रमाणके द्वारा जो बाधित नहीं होता, उसीको आप्तवाक्य कहा जाता है। अतएव ईश्वरकी वाणी ही यथार्थरूपमें आप्तवाक्य है। क्योंकि मनुष्यमात्रमें ही भ्रमादि दोषोंका रहना अनिवार्य है।

वाक्य दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और बौद्धिक। लौकिक वाक्योंमेंसे केवलमात्र विश्वस्त एवं यथार्थ वक्ताके वाक्य ही प्रमाणके रूपमें गृहीत हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे वाक्य अप्रमाण हैं। अनादि होनेके कारण स्वयंसिद्ध शब्द ही प्रमाणके रूपमें गृहीत हैं। वे स्वयंसिद्ध शब्द ही शास्त्र हैं। उसीका नाम वेद है और बही अनादि कालसे प्रसिद्ध है। वेद—श्रीभगवानके अनादिसिद्ध वाक्य हैं। इसीलिये उनका नाम अपौरुषेय है। भगवान निखिल जीवोंके जनक है। जीवोंके कल्याणके लिये उन्होंने जिन उपदेश-वाक्योंका प्रकाश किया है, वे उपदेश-समूह भ्रम - प्रमाद आदि दोषोंसे सर्वथा-शून्य अत्यभिचारी प्रमाण होनेके कारण सर्व-जनप्राण्य हैं।

आर्ष—ऋषियोंद्वारा कहे गये वाक्यसमूह।

उपमान—किसी एक प्रसिद्ध पदार्थके सादृश्यसे किसी दूसरी वस्तुका परिचय प्रदान करना। जैसे—किसीको खच्चरका परिचय प्रदान करना है। उसे

घोड़ाका दिखलाकर उसीके समान खच्चरको बतलाना ही उपमान प्रमाण है।

अर्थापत्ति—अर्थकी सिद्धि न होते देखकर अन्य रूपसे अर्थ कल्पना अथवा वह प्रमाण जिसमें प्रकट रूपसे किसी विषयको प्रकाशित न करके केवल शब्दके द्वारा ही विषयकी सिद्धि होती है। जैसे—“मोटा देवदत्त दिनमें भोजन नहीं करता।” भोजन नहीं करनेसे मोटा नहीं रह सकता। अतएव वह दिनमें भोजन नहीं करने पर भी रातमें अवश्य ही भोजन करता है—इसीको अर्थापत्ति कहते हैं।

अभाव—पदार्थकी अनुपलब्धि हेतु अभाव बोध होता है। जैसे—घड़ा नहीं देख रहा हूँ। अतएव घड़ेका अभाव है।

संभव—एक सोमें एक या दस है, ऐसी संभावनाका नाम—संभव है।

ऐतिह्य—जिसका वक्ता कौन है—यह ज्ञात न हो, परन्तु पुरुष-परम्परागत बहुत दिनोंसे ही वैसा सुनते आ रहे हैं, इसे ऐतिह्य कहते हैं। जैसे—इस पेड़ पर ब्रह्म-रान्तसका वास है।

चेष्टा—हाथ-पैर आदिसे जो संकेत किया जाय उसे चेष्टा-प्रमाण कहते हैं।

पूर्वोक्त प्रमाण समूह जीवनकी बुद्धिवृत्तिद्वारा ही नानारूपोंमें प्रकटित होते हैं। परन्तु जीवकी बुद्धि भ्रम-प्रमाद आदि चारों दोषोंसे दुष्ट होनेके कारण इन प्रमाणोंमें व्यभिचार देखा जाता है। इसलिये अचिन्त्य अलौकिक वस्तुके विषयमें वेद ही एकमात्र अत्यभिचारी प्रमाण हैं। लौकिक प्रत्यक्ष और

अनुमान आदि ज्ञान श्रीभगवानके सम्बन्धमें याथार्थ्य ज्ञान प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते। संसारमें हम लोग जिन नियमोंसे परस्पर व्यवहार या कर्म करते हैं—चेतन, अचेतन आदि पदार्थोंके नाम-गुण-क्रिया आदिके समन्वयमें ज्ञान लाभ करते हैं, उन समस्त ज्ञानोंका मूल कारण वेद ही है।

अलौकिक ज्ञानका भी परिचय वेदोंमें पाया जाता है। उसे तर्कके द्वारा नहीं जान सकते हैं। एक तार्किक व्यक्ति जिस मतकी अपने तर्कके बल पर प्रतिष्ठा करता है, उससे अधिक बुद्धिसम्पन्न दूसरा तार्किक अपनी प्रखर युक्तियोंसे उस मतका खण्डन कर सकता है। परन्तु अलौकिक अप्राकृत परमेश्वरके सम्बन्धमें जो अप्राकृत ज्ञान है, वह जीवके भौतिक इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसलिये ब्रह्मसूत्रमें (२।१।११) “तर्का-प्रतिष्ठानान्”—इस सूत्रमें एवं महाभारत में “अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्”, “शास्त्रयोनिष्ठात्” (प्र० सू० १।१।३) और “पितृ-वेश-मनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तनेश्चर । श्रेयस्त्वनुपल-ब्धेऽर्थे साध्य-साधनयोरूपि ॥” (भा० १।६।२०।४) श्लोकमें यह दृढ़तापूर्वक सिद्धान्तित हुआ है।

आजकल कलियुगमें वेदोंका प्रचार अत्यन्त अल्प मात्रामें है। उनमेंसे कोई-कोई वेद या वेदके अंश लुप्तप्राय भी हो गये हैं। इसके अतिरिक्त कालके प्रभावसे वेदार्थोंके ग्राहकोंकी बुद्धि भी मन्द हो जाने के कारण दुर्गम विषयोंको समझनेमें असमर्थ हो पड़ी है। इधर वेदका अर्थ अपार एवं दुरुह होनेके कारण उक्त बुद्धिके लिये और भी अधिक दुष्पार एवं अति

दुरुह हो गया है। ऐसी दशामें वेदोंके अर्थका निर्णय करनेवाले इतिहास और पुराणोंकी सहायतासे ही परमार्थका विचार करना कर्तव्य है। इतिहास और पुराण भी वेद ही हैं, इस प्रकारके प्रमाण शास्त्रोंमें भूरि-भूरि पाये जाते हैं—

एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वमितमेतद् यद्गवेदो । यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम् ॥ (वृहदारण्यक २।४।१०)

याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयीको उपदेश कर रहे हैं—मैत्रेयि ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व-वेद, इतिहास और पुराण—ये सभी पूर्वसिद्ध विभु परमेश्वरके निःश्वास-स्वरूप हैं अर्थात् निःश्वासकी भाँति अनायास ही उनसे बहिर्गत हुए हैं।

‘इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृहयेत्’ (महा-भारत आदि १।२६७) अर्थात् इतिहास और पुराणों में वेदोंका अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट हुआ है।

पुरा तपस्वचारोप्रमनराणां पितामहः ।

यानिभूतास्तुतो वेदाः सपङ्क्त पदक्रमाः ॥

ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम् ।

नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ॥

निर्गतं ब्रह्मणो वचनात् वेदान्निनोषत ।

(स्कन्दपुराण प्रभास खण्ड)

इतिहास-पुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।

सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः समृजे सर्वदर्शनः ॥

(भा० १।१।२।३६)

स्कन्दपुराणमें ऐसा कहा गया है कि प्राचीन कालमें पितामह ब्रह्माने अतिशय उग्र तपस्या की

थी। उस तपस्याके फलस्वरूप षडङ्ग पदक्रमोंके साथ वेद उनके सामने आविर्भूत हुए। तत्पश्चात् उनके (ब्रह्माके) मुखसे नित्य शब्द ब्रह्ममय शतकोटि श्लोकोंवाले सर्वशास्त्रमय नित्यपुराण आविर्भूत हुए। ये पुराण अष्टाग्रह हैं—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, श्रीमद्भागवत, नारदीय, बाराह, गरुड, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त्ता, लिङ्ग, कूर्म, स्कन्द, मत्स्य, भविष्य, बामन, मार्कण्डेय, शैव और अग्नि।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—सर्वज्ञ ईश्वर ने अपने श्रीमुखोंसे इतिहास और पुराणात्मक पंचम वेदको प्रकाशित किया।

वेदके छः अङ्गोंका नाम षडङ्ग है—

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषामिति ।
छन्दश्चेति षडङ्गान् वेदानां वेदिका विदुः ॥
छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ कथ्यते ।
ज्योतिषामयनं नेत्रं निरुक्तं श्रोत्रमथ्यते ॥
शिक्षा प्राणन्तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात् साङ्गमधीत्येव ब्रह्मलोके महीयते ॥

आकार आदि वर्गोंके उच्चारण-स्थलोंका बोध करानेवाले शास्त्रका नाम—शिक्षा है। वेद-विहित

यज्ञ आदि क्रियाओंके उपदेशक शास्त्रको कल्प कहते हैं। साध्य-साधन-कर्तृ-कर्म-क्रिया-समासादिके निरूपक शास्त्रको व्याकरण कहते हैं। शब्दोंके शब्द बोध के अतिरिक्त कतिपय शब्दोंके अर्थ निर्णायक शास्त्र को निरुक्त कहते हैं। अक्षरों और मात्राओंकी संख्या से निर्दिष्ट पद्य विशेषको छन्द कहते हैं। ग्रह-नक्षत्रों की गणना आदि रूप गणन शास्त्रको ज्योतिष कहते हैं। वैदिकगण इन छःहोंको वेदाङ्ग कहते हैं। वेदके अङ्ग इस प्रकार हैं। छन्द—वेदके पद (पैर) हैं, कल्प—हाथ हैं, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा प्राण हैं और व्याकरण मुख है। ऐसे साङ्ग वेदका अध्ययन करनेसे ब्रह्मलोकमें निवास होता है।

ऋग्वेदमें २१ शाखाएँ हैं। आयुर्वेद ऋग्वेदके ही अन्तर्गत उपवेद है। यजुर्वेदमें १०० शाखाएँ हैं तथा इसके अन्तर्गत उपवेद है—धनुर्वेद। सामवेदमें १००० शाखाएँ हैं। इसके अन्तर्गत गान्धर्ववेद उपवेद है। अथर्ववेदमें ६ शाखाएँ हैं। इसके अन्तर्गत स्थापत्यवेद उपवेद है।

—विदग्धि स्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रीती महाराज

“श्रीशुक उवाच” का रहस्य

श्रीनन्दं श्रीयशोदा च बालं बन्धे तथोमुं वा ।
तत्प्रियां श्रीमतीं सर्वं गोपी गोप गवादिकम् ॥
श्रीमद्भागवतमें श्रीनन्दोत्सवका वर्णन अष्टाग्रह श्लोकोंमें किया गया है। उत्सवके प्रारम्भमें शुकदेव गोस्वामी १८००००० श्लोकोंमें या इससे भी अधिक में श्रीनन्दोत्सवका वर्णन करना चाहते थे। परन्तु

महाराज परीक्षितकी अल्पायुका विचार करके उसे १८ श्लोकोंमें ही पूर्ण कर दिया। इसके भी कुछ कारण हैं। नीचे कतिपय कारण दिये जा रहे हैं—

(१) पुराण १८ हैं, अतः इनका निचोड़ इन १८ श्लोकोंमें ही दिया गया है।

(२) (अथवा) श्रीमद्भागवतमें १८००० श्लोक

हैं। उनमेंसे प्रत्येक १००० के एक-एक प्रतिनिधिके रूपमें नन्दोत्सवके १८ श्लोक हैं।

(३) (अथवा) महाभारतके १८ पर्वोंके प्रतिनिधिके रूपमें ये १८ श्लोक हैं।

(४) (अथवा) १८ कल्पोंके कारण १८ संख्यक श्लोक हैं।

(५) (अथवा) गुरुपदिष्ट मंत्रमें १८ अक्षरोंके कारण ये १८ संख्यक श्लोक हैं।

(६) (अथवा) श्रीमद्भगवद्गीतामें १८ अध्याय हैं, अतः ये १८ श्लोक हैं।

यहाँ "श्रीशुक उवाच" का प्रयोग किया गया है, जो उनकी महत्ता एवं सारांश विवेचनके तात्पर्यसे है।

(१) "श्रीशुक उवाच" पाठका पहला कारण तो यह है कि जैसे तोताकी बोली बड़ी ही मधुर और रिझानेवाली होती है, वैसे ही श्रीशुकदेव गोस्वामीजी की बालीका भी प्रभाव है।

(२) केवल "शुक उवाच" से भी काम चल सकता था, परन्तु श्रीनन्द महाराजसे जन्मोत्सवकी न्योछावर शुकदेवजी प्राप्त कर चुके हैं—इसे सूचित करनेके लिये ही मानों "श्रीशुक उवाच" का प्रयोग किया है।

(३) श्रीशुकदेव गोस्वामीका नामकरण शुकवन्मधुर-भाषणके कारण ही किया गया था। इसका प्रमाण ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें मिलता है—

श्रीमद्भगवद् वाक्य—

व्यास त्वदीय तनयः शुकवन्मनीजः ।

श्रुते वचो भवतुतच्छुक एव नाम्ना ॥

श्रीशुकके अन्य भाव—

(४) श्रीनन्दोत्सवके समय शुकदेवजी गोपी रूप

धारण करके वहाँ उपस्थित हुए थे। अतएव श्रीशुक का प्रयोग है श्रीरिवाचरति इति श्रीः गोपी रूपः स चासौ शुक इति ।'

(५) ब्रजवल्लभियोंद्वारा प्रेरित हैं; अतः 'श्रीशुक' का प्रयोग है—श्रीभिः हृदि ध्याताभिः ब्रजवल्लवीभिः प्रेरितः शुकः श्रीशुकः।

(६) अथवा श्रीद्वारा पाठित शुक (तोता)-यह श्रीसूत गोस्वामीकी प्रेमातिशय रक्ति है—श्रीणां तासां शुकः कीरः (अत्र मध्यमपद लोपी समासः)

(७) अथवा अत्रियः=परम रमा ब्रजवल्लवी ही हैं इष्टदेवता जिनकी ऐसे शुक=श्रीशुक।

(८) अथवा जो श्रीका शुकवत् गान करते हैं, वे शुक हैं—(श्रीशुकायति गायतीति श्रीशुकः) तस्य सर्वात्मता परिभाषण युक्तिमिति भावः।

(९) अथवा श्रीशुकमेंसे ये पद निकलते हैं— श्री+ईश+क; कृष्णसे है सुख जिनको ऐसे शुक=श्रीशुक ।

(१०) अथवा महाराज परीक्षितके प्रति शुक-वाक्य कि—अब नन्दोत्सवका वर्णन सुनो। ब्रह्म वैवर्त्तमें नारदके प्रति नारायण वाक्य—

अधुना बांछनीयं च नन्द पुत्रोत्सव शृणु ।

सुखदं मोक्षदं सारं जन्म मृत्यु जरापह ॥

शुकदेवजी अपने धन (श्रीमद्भागवत) के साथ नन्दोत्सवमें सम्मिलित हो रहे हैं, अपने ध्येयके उत्सव में खाली हाथ चलना उचित नहीं है। अतः श्रीशुक उवाच पाठ है।

—विद्यावाचस्पति वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी एम. ए.
व्याकरणाचार्य

श्रीभागवतधर्मके सम्बन्धमें

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीके सिद्धान्त

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष १०, संख्या ५, पृष्ठ १०० से आगे]

(२) कृष्ण ही परतत्त्व हैं [तत्त्वं हरिमिह परमं]

जगतकी सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयके मूल कर्त्ता, सर्वकारणकारण परतत्त्व अद्वयज्ञान तत्त्व हैं। उनके समान दूसरा कोई भी नहीं है, फिर उनसे बढ़ कर कोई दूसरा होगा—इसकी तो कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती है। इसीलिये श्रुति कहती है—

“न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।”

(श्वेताश्व० ६।८)

इस वासमोक्ष अद्वयज्ञान परतत्त्वकी विभिन्न तत्त्वदर्शी पुरुषोंने अपने-अपने अधिकारके अनुरूप त्रिविध रूपोंसे अनुभव किया है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

यहाँ पर ध्यान देनेकी बात है कि परतत्त्व एक होने पर भी त्रिविध अधिकारियों द्वारा अनुभूत त्रिविध प्रतीतियाँ एक नहीं हैं; बल्कि उनमें उत्तरोत्तर वैशिष्ट्य है। इन तीनोंमें भगवत् प्रतीति ही सच्चिदानन्द स्वरूप सर्वश्रेष्ठ प्रतीति है। उपनिषदोंमें जिस ब्रह्मका वर्णन किया गया है वह परतत्त्व भगवानके श्रीचरणकमलोंके नखोंकी प्रभामात्र है अथवा सच्चिदानन्द भगवानके सत्, चित् और आनन्दमेंसे केवल

चित् (ज्ञान-स्वरूप) के खण्डांशको 'ब्रह्म' कहते हैं, जिसको ज्ञानीजन ज्ञान-मार्गसे सिद्ध होनेपर अनुभव करते हैं और परमात्मा—भगवानके सत् और चित्के (आनन्दरहित) वह असम्यक् प्रकाश हैं, जो जीव-मात्रके हृदयमें अन्तर्यामी और साक्षीके रूपमें विराजमान रहते हैं तथा योगीगण उनका अनुभव करते हैं और षडैश्वर्यपूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् ही परतत्त्वकी पूर्ण प्रतीति हैं, जिसे भक्तगण प्रेमभक्ति द्वारा साक्षात्कार करते हैं—

यत्प्रति ब्रह्मोपनिषदि तदन्वस्य तन्मुना

य आत्मान्तर्यामी पुरुष इति सोऽस्यांशविभवः ।

षडैश्वर्यैः पूर्णो य इह भगवान् स स्वयमर्थ

न चैतन्यात् कृष्णाज्जगति परतत्त्वं परमिह ॥

(श्री चैतन्यचरितामृत आदि १।३)

श्रीजीवगोस्वामी भी तत्त्वसन्दर्भमें परतत्त्वका निरूपण करते हुए कहते हैं—

यस्य ब्रह्मेति संज्ञां क्वचिदपि निगमे याति चिन्मात्रसत्ता—

प्यंशो यस्यांशकैः स्वैविभवति वशयन्नेव मायां पुमांश्च ।

एकं यस्यैव रूपं दितसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं,

स कृष्णोविधत्तां स्वयमिह भगवान् प्रेम तत्पादभाजाम् ॥

(तत्त्वसन्दर्भ ८)

जिनकी चिन्मात्र सत्ताको श्रुतियोंमें कहीं-कहीं पर 'ब्रह्म' कहा गया है, जिनके अंश पुरुषके रूपमें मायाको वशीभूत कर अपने अंशसे वैभवविलास प्रकाश किया करते हैं और जिनका एक स्वरूप परव्योममें नारायण-स्वरूपसे विराजमान है, वे स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण इस संसारमें अपने चरणकमल-सेवी भक्तोंको अपना प्रेम प्रदान करें।

ब्रह्म—भगवान्की अंगप्रभा हैं—ऐसा ब्रह्मसंहिता में भी कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि-
कोटीष्वशेषवसुधाविभूतिभिस्तम् ।
तद्ब्रह्मनिष्कलमनन्तमशेषभूतं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

(ब० सं० ५।४०)

अर्थात् करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्डोंमें अगणित वसुधादि ऐश्वर्यद्वारा पृथक् कृत, निष्कल, अशेष-भूत जो ब्रह्म हैं—वह भी जिनकी अंगप्रभासे उत्पन्न हुए हैं, उन सर्वादि परमपुरुषका मैं भजन करता हूँ।

गीतामें भी श्रीकृष्णको ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय कहा गया है—“ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्या-
न्ययस्य च ॥”

चैतन्य चरितामृतमें स्पष्टरूपसे कहा गया है—

ताहार अंगेर शुद्ध-किरण-मण्डल ।
उपनिषद् कहे तारे ब्रह्म मुनिर्मल ॥

भगवत-स्वरूप भी दो प्रकारके हैं—ऐश्वर्य-स्वरूप और माधुर्य-स्वरूप। परव्योममें ऐश्वर्य-स्वरूप—श्रीपरव्योमपति श्रीनारायण हैं। तथा गोलोकोदिमें

माधुर्य प्रकाश श्रीकृष्ण हैं। श्रीनारायण और श्रीकृष्ण तत्त्वतः एक होने पर भी रसकी दृष्टिसे श्रीकृष्णकी उत्कृष्टता स्वयंसिद्ध है—

सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश कृष्णस्वरूपयोः ।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेवा रसस्थितिः ॥

कृष्ण-स्वरूपके भी रस और लीला-वैचित्र्यकी दृष्टिसे तीन प्रकाश हैं—(१) ऐश्वर्य प्रधान माधुर्य-स्वरूप—द्वारकेश कृष्ण, (२) ऐश्वर्यमाधुर्यमिश्र स्वरूप माधुरेश कृष्ण तथा (३) माधुर्य-प्रधान अखिल रसामृत मूर्ति श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण। इन तीनों प्रकाशोंमें ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही स्वयं-भगवान् शब्द वाच्य हैं। निखिल प्रमाण-शिरोमणि श्रीमद्-भागवतमें श्रीकृष्णकी स्वयं भगवत्ताकी घोषणाकी गयी है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे-युगे ॥

(भा० १।३।२८)

अर्थात् पहले जिन अवतारोंका वर्णन किया गया है, उनमेंसे कोई-कोई पुरुषावतार कारणार्णवशायी महाविष्णुके अंश हैं और कोई-कोई उनके अंशोंके अंश अर्थात् कला हैं। ये अवतारसमूह दैत्यों द्वारा निपीड़ित जगतकी रक्षा करनेकेलिये प्रत्येक युगमें अवतीर्ण होते हैं। परन्तु ब्रजेन्द्रनन्दन-कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, ये समस्त अवतारोंके मूल पुरुष आद्य-पुरुषावतार महाविष्णुके भी आदि हैं।

ब्रह्मसंहितामें भी कहा गया है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।
अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

(ब्रह्मसंहिता ५।१)

अर्थात् सत्, चित् और आनन्दमय विग्रह श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं। वे स्वयंरूप अनादि एवं सर्वविष्णु और वैष्णव-तत्त्वके आदि सर्वकारणोंके भी मूल कारण हैं।

गीतामें सर्वत्र ही कृष्णका परतत्त्वत्व घोषित है—

- [१] 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ।'
 [२] 'मतः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।'
 [३] 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ।'
 [४] 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् ।'

पद्मपुराणमें भी—

'यत्रावतीर्णं कृष्णाख्य परं ब्रह्म ।'

गोपालतापिनी उपनिषद्में—

तस्मात् कृष्ण एव परो देवस्तं ध्यायेत् ।
 तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् ॥

ब्रह्मसंहिता श्रुतिमें भी—

'श्यामाच्छबलं प्रपद्ये । शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये ।'

पुनः श्रीमद्भागवतमें अन्यत्र भी श्रीकृष्णके लिये ऐसा कहा गया है—

'गूढं परं ब्रह्म मनुष्य लिङ्गम् ।'

अधामुर जैसे महापापीकी भी भगवान् श्रीसुकुन्द के हाथोंले मारा जाने पर मुक्तिगतिको देखकर परम विस्मित ब्रह्माजी भगवान्की और भी कोई मनोमुग्ध-कर परमचमत्कारपूर्ण लीला देखनेकी इच्छासे गोवत्सों एवं ग्वाल-बालोंका हरण कर उन्हें एक पर्वत कन्दरेमें बन्दकर चले गये और मानव परिमित एक वर्षके पश्चात् लौट कर श्रीकृष्णको जब गोवत्सों और

ग्वालबालोंके साथ उयों-का-त्यों पूर्ववत् खेल करते देखा तो और भी आश्चर्यचकित हो पड़े। उन्होंने एक ही साथ पर्वतकन्दरेमें भी तथा श्रीकृष्णके साथ भी दोनों स्थानोंमें पृथक्-पृथक् रूपमें गोवत्सों एवं गोपबालकोंको देखा। उस समय भगवान्की मायासे मोहित होकर बहुत विचार करने पर भी वे यह नहीं निर्णय कर सके कि कन्दरेमें बन्द ग्वाल-बाल और बछड़े सत्य हैं अथवा श्रीकृष्णके साथवाले। ऐसा विचार कर ही रहे थे कि उन्होंने समस्त बछड़ों और ग्वाल-बालोंको एक-एक चतुर्भुज रूपमें ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अन्यदेवतासमूह और ऋषिमुनियों आदि द्वारा उपासित होते देखा। ऐसा देख कर वे बड़े विकल हो उठे। तब श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी योगमायाकी यवनिका हटा दी। अब ब्रह्माजीने देखा—वही घृन्दावन है, वहाँ ठीक पहलेकी भाँति अद्वय, अनन्त ज्ञानस्वरूप परब्रह्म अपने प्रिय गोप-रिशुओंको, गोवत्सोंको दूढ़ता फिर रहा है, लीतारस-पानमें प्रमत्त है, दधिमिश्रित घास भी कर-कमलोंमें ठीक वैसे ही सुशोभित है। ऐसा देख कर पितामहजी विह्वल होकर श्रीकृष्णको असंख्य प्रणाम कर साश्रु-नयनों एवं गद्गद् कंठसे नराकृत परम-ब्रह्म—
 ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम् ।

यन्निबं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम् ॥

(श्रीमद्भा. १०।१४।३२)

अहो, नन्दमहाराज और ब्रजवासियोंके धन्य भाग्य है। वास्तवमें उनका अहोभाग्य है। क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण उनके अपने सगे सम्बन्धी और मित्र हैं।

इसी प्रकार एक दिनकी बात है, रसिकशिरोमणि देवर्षि नारदजी बीष्णापर भगवान्‌का गुणगान करते हुए नन्द-भवनमें उपस्थित हुए । वहाँ पर उन्हें भी परम ब्रह्मकी जो विचित्र भाँकी हुई—उससे वे दंग रह गये । क्या देखा—नन्द-प्राङ्गणकी धूलिमें परम ब्रह्म लोट-पोट रहा था एवं समीप खड़ी यशोदा रानी हँस रही थीं । ऐसा देख कर वे बोल उठे—

कि ब्रुमस्त्वां यशोदे कति-कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्बिधानैः कति कति सुकृतान्यजितानि त्वयैव ।
नो शक्नो न स्वयंभू नं च मदनरिपुयंस्य लेभे प्रसादं
तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपति क्रोडमारोडुकामम् ।

‘यशोदे ! तुम्हें क्या कहूँ, न जाने तुमने किन-किन पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधियोंसे कितने कितने पुण्य सञ्चय किये हैं, जिसके फलस्वरूप तुम्हें यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ । सुरेन्द्रने जिसके कृपापाटापके परांत नहीं पाये, कमलयोनिने जिसकी कृपा नहीं पायी, मदनारि नदापेचने जिसकी अनुभूति नहीं की, वह कृपा, वह प्रसाद तुम्हें मिला । ओह ! वह पूर्णब्रह्म तुम्हारी गोदमें चढ़नेके लिये रो-रोकर पृथ्वीपर लोट रहा है और तुम उसे उठा नहीं रही हो । तुम्हारे सौभाग्यकी यही तो चरमसीमा है अजरानी ।’

महासौभाग्यवान् प्रेमैकनिष्ठ श्रीरघुपति उपाध्याय भी प्रेमसे अधीर होकर कहते हैं—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः ।
ग्रहमिह नन्दं बन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म ॥

—संसारमें जन्म-मरणके भयसे भीत होकर कोई जन श्रुतियोंका आश्रय लेते हैं, तो कोई स्मृतियोंका

और कोई महाभारतका ही सेवन करते हैं तो करो । परन्तु मैं तो उन श्रीनन्दरायजीकी बन्दना करता हूँ, जिनकी पौड़ीमें परब्रह्म बालक बन कर खेल रहा है ।

और तो क्या अद्वैतवादके शिखर पर आसीन परम विद्वान् श्रीमधुसूदन सरस्वतोजी किसी महा-सौभाग्यवश नित्यनवीन, सौन्दर्य-माधुर्य-सुधारस सिन्धु, योगिन्द्र-मुनिन्द्र-परिपेचित पदारविन्द परब्रह्म ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी एक दिव्य भाँकीपर ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर बड़ी दृढ़ताके साथ कह उठते हैं—

वंशीविभूषितकराध्रवनीरदाभात

पिताम्बरादहणविम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्

कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

—जिसके दोनों हाथ बाँसुरी बजाते हुए रोभा पा रहे हैं, श्रीश्यांगोंकी कान्ति नूतन जलधरके समान रयाम है, शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है, श्रोष्ठ पके हुए विम्बाफलके समान लाल-लाल है, परम सुन्दर मुख पूर्णचन्द्रमाके समान आनन्ददायक है और नेत्र विकसित कमलसी शोभा धारण करते हैं, उस श्रीकृष्णसे बढ़ कर या उससे परे किसी श्रेष्ठ तत्त्वको मैं नहीं जानता ।

अस्तु, वेद, उपनिषद्, पुराण, इतिहास एवं वैष्णव आचार्यों तथा प्रेमीजनोंकी वाणियोंसे श्रीकृष्ण ही परम परात्पर तत्त्व निर्दिष्ट हुए हैं ।

(३) श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं

[क] ‘परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥’

(ख) 'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा ।
अविद्या-कर्म संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥'
(विष्णु पुराण ६।७।६१)

(ग) 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनोबुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।
अपरेयमितस्वव्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महामाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥'
(गीता ७।४५)

(घ) 'सृष्टिस्थिति प्रलयसाधनशक्तिरेका ।
छायेव यस्य भुवनानि विभर्ति दुर्गा ॥
इच्छानुरूपमपि यस्य च चेष्टते सा ।
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ॥'
(ब्रह्मसंहिता ४४)

(च) 'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'—(वेदान्तमूल)

इत्यादि श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, वेदान्त, पुराण एवं इतिहास आदिमें भगवानकी विभिन्न शक्तियोंका वर्णन प्रचुर परिमाणमें उपलब्ध होता है। श्रीचैतन्य-चरितामृतमें भगवानकी अनन्त शक्तियोंमेंसे चित्-शक्ति, जीव शक्ति और माया शक्ति—इन तीन शक्तियोंको प्रधान बतलाया गया है—

कृष्णेश्वर स्वाभाविक तीन शक्ति परिणति ।

चिच्छक्ति जीवशक्ति और मायाशक्ति ॥

वास्तवमें कृष्णकी पराशक्ति एक ही है। यही पराशक्ति अनेक रूपोंमें प्रकाशित है। उपरोक्त तीनों शक्तियोंको क्रमशः अन्तरङ्गा, तटस्था और बहिरङ्गा शक्ति भी कहते हैं। भगवान्का स्वरूप सच्चिदानन्द होनेके कारण उनकी परा या स्वाभाविकी शक्ति भी

तीन रूपोंमें प्रकाशित है—सत् अंशसे सन्धिनी, चिद् अंशसे सम्बित् और आनन्द अंशसे ह्लादिनी—

आनन्दांशे ह्लादिनी सदांशे सन्धिनी ।

चिदंशे सम्बित् यारे ज्ञान करि मानी ॥

इनमेंसे ह्लादिनीका सार अंश ही प्रेम है, प्रेम वर्द्धित होने पर क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभावके रूपमें परिणत हो जाता है। इस महाभावका मूर्त्तिमान स्वरूप ही श्रीमती राधिकाजी है—

सेई महाभावरूपा राधा ठाकुरानी ।

कृष्णप्रेम खनि कृष्ण काया निरोमणि ॥

(चैतन्यचरितामृत)

ये श्रीमतीराधिका ही पूर्णशक्ति या स्वरूप शक्ति हैं—

राधा पूर्णशक्ति कृष्ण पूर्णशक्तिमान ।

डुइ वस्तु भेद नाहि शास्त्र परमान ॥

मृगमद तार गंध जैछे अविच्छेद ।

अग्नि-ज्वालाते जेछे कथु नाहि भेद ॥

राधाकृष्ण ऐछे सदा एकई स्वरूप ।

लीलारस आस्वादिते धरे दूई रूप ॥

(चैतन्यचरितामृत)

तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान है और श्रीमतीराधिका पूर्ण शक्ति हैं। ये दोनों तत्त्व पृथक होकर भी नित्य अपृथक हैं। ये दोनों कैसे पृथक और अपृथक हैं—यह मानवोंकी चिन्ता की सीमासे अतीत होनेके कारण अचिन्त्य है। वास्तवमें दोनों वस्तुओंमें भेद नहीं है अर्थात् दोनों

एक ही हैं—इसके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें प्रचुर प्रमाण हैं। वेदान्तमें भी कहा गया है—‘शक्तिशक्तिमतोर-भेदः।’ इस विषयमें दो प्रादेशिक उदाहरण दिये गये हैं। जिस प्रकार मृगमद अर्थात् कस्तुरी और उसका गंध तथा अग्नि और उसकी ज्वाला (लपट) में कुछ भी भेद नहीं है। उसी प्रकार श्रीराधा और कृष्णमें कोई भेद नहीं है। ये दोनों एक ही स्वरूप हैं। पुनः लीलारसका आस्वादन करनेके लिए दो रूपोंमें नित्य प्रकटित हैं।

कुछ लोग शक्तिको मानते हैं, शक्तिमानको नहीं मानते और कुछ लोग शक्तिमानको मानते हैं, शक्ति को नहीं मानते। परन्तु विचार करने पर ये दोनों ही मतवाद असार और भित्तिहीन प्रतीत होते हैं। श्रीरामायण और महाभारत हमारे प्रामाणिक और सर्वमान्य ग्रन्थ हैं। इन दोनोंमें ही केवल शक्तिमान या केवल शक्तिको मानने वालोंको असुर माना गया है। तथा दोनोंके सर्वशक्तिमान भगवानके द्वारा बंधका वर्णन है। जैसे—रावण और कंस। रावण रामकी शक्तिका अपहरण कर परमब्रह्म श्रीरामको निःशक्तिक करना चाहता था। वह निःशक्तिक निर्बि-शेष ब्रह्मोपासक था, जो राम द्वारा मारा गया था अर्थात् श्रीरामचन्द्रके द्वारा रावणका निःशक्तिक निर्बिशेषवाद ध्वंश प्राप्त हुआ था। उसी प्रकार कंस भी केवल कृष्णको मार डालना चाहता था। उसने शक्ति अर्थात् श्रीमतीराधिकाको ध्वंश करनेकी तनिक भी चेष्टा नहीं की, क्योंकि वह स्वयं शक्तिको मानता था। कृष्णका ध्वंश कर केवल शक्तिवादकी प्रतिष्ठा करना चाहता था। परन्तु श्रीकृष्णने कंसको मारकर

अर्थात् केवल-शक्तिवादका ध्वंशकर शक्ति-शक्तिमान दोनोंकी ही एक साथ उपासनाकी प्रतिष्ठा की तथा दिखाया दिया कि दोनोंमें कोई भेद नहीं है।

(४) श्रीकृष्ण अखिल रसामृतसिन्धु हैं

‘रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।’ इस तैत्तिरीय श्रुतिके मंत्रमें परतत्त्व श्रीकृष्णको रस-स्वरूप वर्णन किया गया है। वे रस एवं रसिक, ज्ञान-स्वरूप और ज्ञाता या सर्वज्ञ, सत् स्वरूप और सत्तावान् या रूपवान् तथा आनन्द स्वरूप और आनन्दमय—दोनों ही हैं। ब्रह्मसूत्रके आनन्दमया-धिकरणमें इस विषयका विस्तृत विवेचन द्रष्टव्य है।

श्रद्धा—इस भगवद्रस या भक्तिरसका बीज है। यह भगवत् विषयनी प्रवृत्ति—श्रद्धाबीज ही क्रमशः निष्ठा, रूचि, आसक्तिके रूपमें विकसित होकर जब भगवत्-सम्बन्धिनी रति होती है, तब उसे स्थायी भाव कहते हैं। वही स्थायी भाव—विभाव, अनु-भाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—इन चार अप्रा-कृत रस-स्वामियोंके मिलनसे जब एक परम आस्वा-दनीय, परमचमत्कारपूर्ण अवस्थ में उपस्थित होता है, तब उसीको रस कहते हैं। आगे यही रति प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महा-भाव अवस्थामें विकसित होती है। यह महाभाव ही श्रीराधाका स्वरूप है। ये महाभाव-स्वरूपा श्रीमती राधिका अखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्णरूप विषयकी सर्वश्रेष्ठ आश्रय होकर भी उनमें अमिश्र हैं।

रस दो प्रकारके हैं—मुख्य और गौण। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर—ये पाँच मुख्य

रस हैं तथा हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और विभत्स—ये सात गौण रस हैं ।

मुख्य पाँच रसोंमेंसे ब्रह्म और परमात्मा—शान्त रसके आश्रय हैं, वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण—शान्त और दास्यके विषय हैं; अन्यान्य अवतार-समूह प्रधानतः शान्त और दास्यके ही विषय हैं । श्रीराम-चन्द्र शान्त, दास्य और गौरव मुख्य तकके विषय देखे जाते हैं, उनमें सातों गौण रससमूह अथवा कुछेक गौण रसोंको भी लक्ष्य किया जा सकता है; परन्तु कृष्ण इनमेंसे पाँचों मुख्यरसों तथा सातों गौण रसोंके ही विषय हैं । विशेषतः विश्रंभ सख्य, वात्सल्य और मधुर—इन तीन रसोंके विषय केवल श्रीकृष्ण ही हैं; श्रीमन्नारायण या अन्यान्य अवतारोंको भी इन तीन मुख्य रसोंका विषय नहीं लक्ष्य किया जाता है । इसीलिये रस-तत्त्वके आचार्य श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं—

सिद्धान्ततत्त्वभेदेपि श्रील-कृष्ण-स्वरूपयोः ।

रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेवा रसस्वितिः ॥

(भक्तिरसाभूतविष्णु)

[श्रीमन्नारायण और श्रीकृष्ण—इन दोनों स्वरूपों में सिद्धान्तकी दृष्टिमें कुछ भी भेद नहीं है, तथापि शृङ्गार-रसके विचारसे श्रीकृष्ण स्वरूप ही (रसकी उत्कर्षता हेतु) उत्कृष्ट हैं ।]

इस रस उत्कर्षताका कारण यह है कि श्रीकृष्ण में चार ऐसे असाधारण गुण अर्थात् रस-माधुरी प्रकाशित है जो श्रीकृष्णके अतिरिक्त श्रीनारायण या श्रीरामादि स्वरूपोंमें भी प्रकाशित नहीं हैं—

सर्वादभुतचमत्कार-लीला-कल्लोल-वारिधिः ।

अतुल्य-मधुर-प्रेम मण्डित-प्रियमण्डलः ॥

त्रिजगन्मानसाकर्षी मुरली कलकूजितः ।

असमानोद्ध रूपश्रीविस्मापितचराचराः ॥

अर्थात् ये चार गुण हैं—(१) सर्वलोक चमत्कार-कारिणी लीलाका कल्लोल समुद्र, (२) शृङ्गार-रसके अतुल्य प्रेमद्वारा शोभायुक्त श्रेष्ठ मण्डल, (३) तीनों जगत्की चित्ताकर्षी मुरलीकी तान और (४) असमानोद्ध रूप-सौन्दर्य जिसे देखकर चराचर विस्मित हो जाता है ।

अमल प्रमाण श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णके इन चारों असमोद्ध माधुरियोंका प्रचुर वर्णन पाया जाता है । वेणु-माधुरी और रूप-माधुरीकी माँकीका दर्शन कीजिए ।

का स्वयं ते कलपदायतवेणुगीत-

सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम् ।

त्रैलोक्यसीमगमिदञ्च निरीक्ष्य रूप-

यद्गोद्विजद्गुममृगाः पुलकान्यविभ्रत् ॥

(भा० १०।२६।४०)

—रातमें श्रीकृष्णके वेणुनादसे आकृष्ट होकर अपने लोक धर्म आदिकी जलांजलि देकर निर्जन वृन्दावनमें अपने पास एकत्रित गोपियोंको जब लोक आदि धर्मोंका भय दिखलाकर अपने-अपने पतियोंके पास घरको लौट जानेके लिये श्रीकृष्णने परामर्श दिया, तब गोपियाँ कुछ रोपसे बोलीं—प्यारे कृष्ण ! तीनों लोकोंमें भी ऐसी कौन-सी स्त्री है, जो मधुर-मधुर पद और विविध प्रकारकी दीर्घ मुच्छ-नाश्रोंसे युक्त अमृतमय तुम्हारी दंशीकी तान सुनकर

तथा आपकी इस त्रिलोकसुन्दर मोहिनी मूर्त्तिको अपने नेत्रोंसे निहार कर आर्य-मर्यादासे विचलित न हो जाय ! तथा कुल-कान और लोकलज्जाको त्याग कर तुममें अनुरक्त न हो जाय । अहो ! आपके मधुर वेणुनादको सुनकर यदि चर और अचर भी अपना धर्म छोड़ देते हैं—यमुनाका प्रवाह स्थगित हो जाता है, वायुका बहना रुक जाता है तथा आपके त्रिजगत मनोमुग्धकारी रूपको देखकर गो, पशु, पक्षी और वृक्षसमूह भी अपना-अपना धर्म छोड़ कर अपने-अपने धर्मके विपरीत चेष्टाएँ करने लगते हैं—पुलकित हो उठते हैं, तब हम स्त्रियोंकी तो बात ही क्या है ? दूसरी बात, आप जो आर्य-धर्म त्याग आदि का दोष हम पर दे रहे हैं, इसमें हमारा क्या दोष है ? यदि दोष है तो आपके वंशीनाद एवं असमोद्ध रूपसौन्दर्यका ही है, जो बलान् दूसरोंकी धर्म-मर्यादा को दूर कर आपके पास खिंच लाते हैं ।

(५) जीव कृष्णका विभिन्नांश तत्त्व है ।

जीवमात्र स्वरूपतः कृष्णके दास हैं । वे अचिन्त्यशक्तिमान श्रीकृष्णकी तटस्थाशक्ति-परिणत अणुचित् वस्तु हैं । संख्यामें अगणित हैं । सूर्यके किरणगत परमाणुओं या अग्निकी चिनगारियोंकी भाँति चित्सूर्य-कृष्णकी किरण स्थानीय शक्तिगत चित् परमाणु स्थानीय जीव हैं । कृष्णके अंश दो प्रकारके होते हैं—अंश और विभिन्नांश । अवतार-समूह कृष्णके अंश हैं । जीव—उनकी शक्तिपरिणत विभिन्नांश हैं । अंश स्वरूप अवतारगण शक्तिमान तत्त्व हैं तथा सभी पूर्ण तत्त्व हैं । परन्तु जीव शक्ति-तत्त्व है, वह कभी भी शक्तिमान तत्त्व नहीं हो सकता है । श्रीचैतन्यचरितामृतमें जीवतत्त्वका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

“जीवेर स्वरूप ह्य कृष्णेन नित्यदास ।
कृष्णेन तटस्था शक्ति भेदाभेदप्रकाश ॥
सुर्यांशु किरण, येन अग्निज्वाला चय ।”

गीतामें—

“मर्मवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥”

(गी० १५।७)

बृहदारण्यक (२।१।२०) में—

“यथानेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मदात्मनः
सर्वाणिभूतानि व्युच्चरन्ति ।”

श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी—

“बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥”

(श्वे० ५।६)

मुण्डक उपनिषद्में भी—

“एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो ।”

इस प्रकार हम वेद-उपनिषद् गीता, भागवत आदि शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यह देख पाते हैं कि जीव भगवानका विभिन्नांश है ।

(६-७) षड् और मुक्त जीवसमूह

भगवानके विभिन्नांश जीव दो प्रकारके हैं—मायाबद्ध संसारी जीव और मायामुक्त शुद्धजीव । जीव स्वरूपतः चिद् वस्तु है; अतः चिजगतमें विचरण करने योग्य है । परन्तु उसका बद्ध स्वरूप अत्यन्त अणु होनेके कारण भगवानकी अघटनघटनपटीसी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे मायाद्वारा आच्छादित होकर अचित् जगतमें विचरण योग्य भी होता है । इस प्रकार अचिन् और चिन्-दोनों जगतोंके मध्य तट रेखास्थित दोनों ओर विचरण करने योग्य धम-वाले जीवको तटस्थ जीव कहा गया है । जीव जब तक अपने प्रभु भगवानके सन्मुख रहकर उनकी सेवामें तत्पर रहता है, तबतक वह शुद्ध रहता है; परन्तु जभी वह तटस्थ धर्मवशतः भगवान् विमुख होकर मायाकी ओर दृष्टिपात करता है; तभी भगवान्की बहिरङ्गा माया उसके चित्स्वरूपको आच्छादित करके-स्थूल और सूक्ष्म मायिक देहोंसे ढक

कर संसारमें चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमणकरती हुई उसे त्रिविध तारोंसे दग्ध करने लगती है। इस प्रकार संसारमें भ्रमण करते-करते कोई परम सौभाग्यवान जीव ज्ञात या अज्ञात भगवन्मुखी सुकृति-पुञ्जके प्रभावसे सत्सङ्ग लाभकर सद्गुरुका पदाश्रय करता है तथा संसारको दुःखपूर्ण जानकर तथा स्वस्वरूप अवगत होकर शुद्धभक्तिका आचरण करता है तथा क्रमशः स्वरूप सिद्धि और वस्तुसिद्धिको प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशावपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत् तं
भक्त्यैक्येशं गुरुदेवतात्मा ॥

(भा० ११।२।३७)

—जब जीव ईश्वरसे विमुख हो जाता है, तब ईश्वरकी माया जीवके स्वरूपको आच्छादित कर देती है, जिससे वह “मैं कृष्ण हूँ”—ऐसा अपना नित्य स्वरूप विस्मृत हो जाता है तथा इस विस्मृतिसे ही वह चौरासी लाख प्रकारकी योनियोंमें पड़कर ऐसा मानता है कि ‘मैं देवता हूँ’, ‘मैं मनुष्य हूँ’। इस मायिक देह आदि अन्य वस्तुमें अभिनिवेश, तन्मयताके कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेकों भय होते हैं। इसलिये अपने गुरुको ही आराध्यदेव परम प्रियतम मानकर अनन्यभक्तिके द्वारा वस ईश्वरका भजन करना चाहिये।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें भी जीवके स्वरूपका बड़ा ही स्पष्ट वर्णन है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यादास ।

× × × ×

कृष्णभूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख ।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख ॥
संसार भ्रमिते कौन भाग्यवान जीव ।
साधु गुरु प्रसादे पाय भक्ति लता बीज ॥
ताते कृष्ण भजे करे गुरुर सेवन ।
मायाजाल छुटे पाय श्रीकृष्ण चरण ॥

कुछ दार्शनिकोंने आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिको ही मुक्ति माना है और कुछने ब्रह्म या परमात्म-सायुष्यको ही मुक्ति माना है, परन्तु श्रीमद्भागवतमें दुःखनिवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिको ही मुक्ति माना है। श्रीमद्भागवत मुक्तिके सम्बन्धमें कहते हैं ‘मुक्तिर्हितु अन्यथारूपं स्वरूपेणव्यवस्थितीति’ अर्थात् अन्यथारूप मायिक स्थूल-सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा प्राप्त कर स्व-स्वरूपमें स्थितिको मुक्ति कहते हैं। इसलिये वैष्णवमतानुसार “विष्णुवाङ्मन्त्रिणाभःमुक्तिः” मुक्तिकी यही परिभाषा शास्त्रसङ्गत एवं सर्वप्रकारसे उपयुक्त है। अतः मुक्तिके पश्चात् जीव ब्रह्ममें लय प्राप्त नहीं होना, बल्कि अपने शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होकर नित्यकाल भगवत् सेवा करता है। जीवको शास्त्रोंमें कहीं-कहीं जो ब्रह्म कहा गया है, वह तुलनात्मक या सादृश्यके लिये कहा गया है। जैसे कोई व्यक्ति किसी लड़केकी बहादूरी एवं साहसको देखकर यह कहता है—‘यह लड़का सिंह है।’ परन्तु ऐसा कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह लड़का सम्पूर्णरूपसे सिंह ही है, बल्कि बहादूरी एवं साहसके सादृश्यसे केवल उसी अंशमें ही उसे सिंह कहा गया है, न कि पूर्णांशमें।

(क्रमशः)

—सम्पादक

प्रश्नोत्तर

वेदानुगव्रुव और वेदविरुद्ध अपसम्प्रदाय

[पूर्व-प्रकाशित वर्ष १०, संख्या ३, पृष्ठ ५४ से आगे]

प्रश्न ४६—अनर्थयुक्त जीवोंकी वर्णाश्रम-विरुद्ध चेष्टाएँ क्या हितकर हैं ?

“अवैष्णव संन्यासियोंका वर्णाश्रम - लोपरूप धर्मप्रवर्त्तन और नेडा, बाउल, दरवेश, कर्त्ताभजा, दरवेश, कुम्भपटिया, अतिवाड़ी, स्वेच्छाचारी-अवैष्णव और ब्रह्मवादियोंकी वर्णाश्रम विरुद्ध सभी चेष्टाएँ अत्यन्त अहितकर हैं ।” —चै० शि० २।५

प्रश्न ४७—उपधर्मोश्रित व्यक्तियोंकेद्वारा अपने को ‘ब्रह्मचारी’, ‘संन्यासी’, ‘परमहंस’ के रूपमें परिचय प्रदान करनेसे क्या हानि होती है ?

“आजकल नानाप्रकारके उपधर्मोंमें प्रवृत्त होकर बहुतेरे अपनेको ‘ब्रह्मचारी’, ‘संन्यासी’, ‘परमहंस’ बतलाकर प्रकृत आर्य-धर्मको विनष्ट करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं ।”

—‘ब्रह्मपर्य आश्रम’, स० तो० १०।७

प्रश्न ४८—जिस कित्ती मतको ‘महाप्रभुका मत’ मान लेनेसे क्या महाप्रभुजीकी शिक्षाको प्राप्त किया नहीं जा सकता है ?

“अधिकांश क्षेत्रोंमें विधर्म, झलधर्म आदि कुमतों को ही दुष्ट व्यक्ति श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा कहकर प्रचार करते हैं और विचार शक्ति रहित विषयाविष्ट अधिकांश व्यक्ति उन्हीं कुमतोंको ही महाप्रभुजीका वास्तविक मत मानकर वास्तविक उपदेशसे वञ्चित होते हैं ।” —‘विबोधन’ चै० शि०

प्रश्न ४९—बाउलादियोंका मत क्या वैष्णव मत है ?

“बाउल, साँई, नेडा, दरवेश, कर्त्ताभजा, अतिवाड़ी आदि सभी मत—अवैष्णव मत हैं । उनके उपदेश और कार्य अत्यन्त दूषित हैं । बहुतसे व्यक्ति उनके मतकी आलोचना कर वैष्णव-धर्मके प्रति अश्रद्धा प्रकट करते हैं । किन्तु वास्तविक वैष्णव-धर्म इन सभी धर्मप्वजियोंके दोषोंके लिये दायी नहीं है ।”

—प्रे० प्र० ६ प्र०

प्रश्न ५०—क्या बाउल मत सनातन गोस्वामीपाद अथवा श्रीवीरचन्द्र गोस्वामी द्वारा प्रवर्त्तित हुआ है ?

“बाउल धर्म जिस प्रकार आजकल देखनेमें आता है, वह सर्वशास्त्र विरुद्ध है । शास्त्रमें वैधी और रागानुगा—दो प्रकारकी भक्तिका उल्लेख है । बाउल लोग वैधी भक्तिका तो लेशमान भी आचरण नहीं करते और रागानुगा भक्तिके झलसे नानाप्रकार के असदानरण करते हैं । ॐ इस पथाके कौन प्रवर्त्तक हैं, यह कहा नहीं जा सकता । बाउल लोग कभी श्रीसनातन गोस्वामीको और कभी श्रीवीरचन्द्र गोस्वामी प्रभुको बाउल मतका प्रवर्त्तक कहते हैं । परन्तु वास्तवमें उन्होंने कभी भी ऐसे कुमतकी शिक्षा नहीं दी ।”

—‘बाउल-मत का विचार’

प्रश्न ५१—क्या अभद्रवेश श्रीचैतन्य महाप्रभुजी के द्वारा अनुमोदित है ?

“महाप्रभुजीके प्रसादाकांची श्रीसनातन गोस्वामी ने जब महाप्रभुजीका दर्शन किया, तब उनकी दाढ़ी-मूँछें थी। वही दाढ़ी-मूँछें ही बाउल लोगोंके दाढ़ी मूँछ रखनेका एकमात्र प्रमाण है। किन्तु महाप्रभुजी ने श्रीसनातनजीका प्रेमालिङ्गन कर तुरन्त ही चौर-कार्य करानेकी आज्ञा दी थी। अतएव बाउल लोगोंके अच्छेय प्रमाणका तत्काल ही खण्डन हुआ है।”

—“श्रीश्रीसनातन गोस्वामी प्रभु”, स. तो. २।७

प्रश्न ५२—क्या बाउल लोग श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुगत हैं ?

“बाउल लोग कदापि श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुगत कहे नहीं जा सकते।”

—“श्रीश्रीसनातन गोस्वामी प्रभु”, स० तो० २।७

प्रश्न ५३—साँई, दरवेशादि क्या श्रीचैतन्यानुग सम्प्रदाय हैं ? यदि ऐसा नहीं है, तो वे कौन हैं ?

“श्रीसनातनजीको कहीं फकीर उल्लेख किया गया है। इसीकी आडमें साँई, दरवेश, चरणपाली, दुलालचाँदी आदि व्यक्ति मुसलमानोंका सा फकीर-वेश धारणपूर्वक उसी प्रकारका आचार-व्यवहार करते हैं और अपनेको चैतन्य सम्प्रदायी (?) वैष्णव कहते हैं। यदि कोई उनसे पूछे कि ‘आप लोग मुसलमान फकीरोंका वेश धारण करते हैं और उनकी तरह ही आचरण करते हैं और अपनेको चैतन्य सम्प्रदायी (?) वैष्णव कहते हैं, इसका क्या प्रमाण है ? इसके उत्तरमें उन लोगोंका कहना है कि ‘गोस्वामी सनातनजी फकीर थे, यही प्रमाण है।’

किन्तु जब महाप्रभुजीने सनातनजीकी दाढ़ी-मूँछे और सिरके बालको कटवाकर वैष्णव वेश धारण करवाया, तब वही पर साँई, दरवेश, चरणपाली दुलालचाँदी आदिका प्रमाण समाप्त हो गया है। इसलिए साँई, दरवेश आदिका चैतन्य-सम्प्रदायी (?) वैष्णव होना तो दूर रहे, उनको एक प्रकारसे मुसलमान-सम्प्रदायी कहना ही उचित है।”

—“श्रीश्रीसनातन गोस्वामी प्रभु”, स० तो० २।७

प्रश्न ५४—“वैष्णव-वंश, ‘वैष्णव-जाति’ या ‘वैष्णवाचार्य-वंश’ आदि प्रयोग क्या ठीक हैं ? और और क्या ऐसा कहना वैष्णव धर्मके लिए गौरव-जनक हैं ?”

“वैष्णव-वंश’ यह शब्द सर्वथा अयौक्तिक है। वंश-परम्परामें कौन वैष्णव होगा, यह स्थिर नहीं है। हमने देखा है कि बहुतसे वैष्णव-वंशमें कई कुलाङ्गारोंने जन्म ग्रहण कर असुरों जैसा व्यवहार किया है और चाण्डाल तथा यवनकुलमें जन्म ग्रहण कर अनेक महापुरुष शुद्ध भक्तिके बलसे वैष्णव हुए हैं। वैष्णव-आचार्योंके कुलमें भी बहुतसे अवैष्णवों को उत्पन्न होते देखा जाता है, अत्यन्त अधार्मिक वंशमें कई वैष्णव उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वैष्णव-जाति या वैष्णवाचार्य-वंशके नाते जो सम्मान देखा जाता है, उससे वैष्णवधर्मका गौरव नहीं होता, परन्तु अवैष्णवता ही बढ़ती जाती है।”

—“वैष्णवमें जाति बुद्धि”, स० तो० ६।६

प्रश्न ५५—सहजिया-धर्म क्या ‘वैष्णव-धर्म’ है ?

“बङ्ग देशमें अनेक स्थानोंमें ‘सहजिया’ नामक एक घृणित मत गुप्त रूपसे चल रहा है। इस मतके

सभी कार्य अत्यन्त हेय हैं। शास्त्रमें जिसे 'सहज-धर्म' कहा गया है, उसका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। चिन्मय जीवकी चिन्मय कृष्णसेवा ही सहज धर्म है। यद्यपि यह धर्म आत्माके लिए सहज है, अर्थात् आत्माके साथ ही उत्पन्न हुआ है, फिर भी जड़बद्धावस्थामें उतना सहज नहीं है। उस विशुद्ध कृष्णरतिको वञ्चित और वञ्चक लोगोंने जड़के सहज धर्म अर्थात् स्त्री-पुरुषके संयोगमें परिणत कर दिया है। किन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। आत्माके सहज-धर्ममें जड़ीय स्त्री-पुरुष शरीरका संयोग नितान्त हेय और अनुपयुक्त है। वर्तमान समयमें जिस धर्मको 'सहजिया' धर्म कहा जाता है, वह सर्वशास्त्र विरुद्ध है।"

—'सहजिया मतका हेयत्व', स० तो० ४१६

प्रश्न ५६—मुष्टि-भिक्ताका प्रवर्तन किस उद्देश्य से हुआ ? वर्तमान समयमें उसकी क्या अवस्था है ? "पहले-पहले शुद्ध वैष्णवोंके उपकारके लिए मुष्टि-भिक्ताकी सृष्टि हुई। अब वह एक व्यवसाय बन गया है। ॐ धर्म ध्वजी वैष्णवोंने सांसारिक कार्योंके द्वारा अन्न संप्रह न करनेके उद्देश्यसे मुष्टि-भिक्ताका अवलम्बन किया है।"

—'मुष्टि भिक्ता', स० तो० ६१३

प्रश्न ५७—मुष्टि-भिक्ताकी प्रथामें व्यभिचार क्यों हुआ ?

"वैष्णवोंको मुष्टि-भिक्ता न लेते देखकर अयोग्य स्त्री-पुरुषोंके दल मुष्टिभिक्ताकी प्रथाका अनुचित लाभ उठाते हैं।"

—'मुष्टिभिक्ता', स० तो० ६१३

प्रश्न ५८—व्यवसायी गायकोंके मुखसे हरि-कीर्तन श्रवण करना क्या शुद्ध वैष्णव पसन्द करते हैं ?

"व्यवसायी-गायक वास्तविक साधुसङ्ग कभी नहीं करते और वे वैष्णव सिद्धान्तोंको भी ठीकसे नहीं जानते। अतएव उनके शब्द वैष्णवोंको वज्राघात जैसे प्रतीत होते हैं।"

—'भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध और रसाभास',

स० तो० ६१२

प्रश्न ५९—अखाड़ाधारी महान्तोंका अवैध-योषित् सङ्ग क्या श्रीमन्महाप्रभु या वैष्णव धर्मके द्वारा अनुमोदित है ?

"गोविन्ददास बाबाजी जैसे महान्तोंके कारण गौड़देशके सभी देवालय दूषित हो गये थे। हमारे प्राणनाथ श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने ऐसे क्षोषोंकी आशंका से ही छोटे हरिदासको वैष्णव समाजसे बहिष्कृत किया था। इसको देखकर भी धर्मध्वजियोंको भय नहीं होता ?"

—'श्रीनकुल ब्रह्मचारीका पाठ', वि० प्र० १ म वर्ष

प्रश्न ६०—श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके समय गौड़मंडलकी क्या अवस्था थी ?

"वैष्णव-विरुद्ध-सिद्धान्त सर्वत्र देखे जा रहे हैं। कोई-कोई मायावादको ही वैष्णव धर्म कह रहे हैं, कोई-कोई शुद्ध धर्मके एक अङ्गको लेकर उसमें मायावाद और कर्मवादका मिश्रण कर एक प्रकारके विकृत वैष्णव धर्मका प्रचार कर रहे हैं। जो निरीह हैं, वे "अर्चयामेव हरये यः पूजां श्रद्धयेहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥" के अनुसार कनिष्ठ वैष्णव हैं। बुद्धिमान शुद्ध वैष्णवका नितान्त अभाव

है। शिक्तकके अभावमें जीवोंकी जो गति होती है, वही आजकल गौड़मंडलकी अस्थिति है।”

—‘भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध और रसाभास’,

प्रश्न ६१—श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके समय शुद्ध वैष्णवधर्मका कहाँ तक आदर था ?

“कलिकाल ऐसा भयानक है कि किसी सत्कार्य की स्थिति अधिक दिन नहीं होती। उक्त आचार्यत्रय श्रीनिवास, श्रील नरोत्तम और श्रील श्यामानन्द तथा उनके अनुचर श्रीगोविन्ददासादि महाजनोंके अप्रकटके साथ-साथ यह परम धर्म पुनः नष्ट होने लगा। गौड़भूमिमें शुद्ध भक्तिके विचारोंका क्रमशः हास होने लगा। वैष्णव हो, शाक्त हो या कर्मकाण्डी भले ही क्यों न हो; आचार्य वंशीय व्यक्ति अपनेको वैष्णव धर्मका प्रचारक कहकर कार्य करने लगे। इसलिए श्रीचैतन्य महामनु और श्रीनिवानन्दद्वैत प्रवर्तित शुद्ध वैष्णव धर्मका क्रमशः हास होने लगा। एक तरफ तो ऐसा आचार्य-विस्रव हो रहा था और दूसरी ओर बाउल सहजिया आदिका उपद्रव क्रमशः बढ़ने लगा था। श्रीवैष्णवधर्मकी इन्हीं सब कारणोंसे आज यह दुर्दशा देखी जा रही है।”

—‘भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध और रसाभास’,

स० तो० ६१२

प्रश्न ६२—श्रीचैतन्यमहाप्रभुके पश्चात् वैष्णव जगतमें कैसा विस्रव हुआ था ?

“श्रीचैतन्य महाप्रभुके पश्चात् वैष्णव जगतमें

थोड़ा बहुत उपद्रव होने लगा। प्रभु-वंशमें उपयुक्त पात्र न रहनेसे और नाना मतवादोंके प्रवेश करनेसे गौड़भूमि आचार्य-शासनसे रहित हो पड़ी। प्रभु वीरचन्द्रजी अपने स्वतन्त्र स्वभावके कारण समस्त गौड़भूमिको शासनमें न ला सके। श्रील अद्वैताचार्यजीके सन्तानोंमें गड़बड़ी चल रही थी। महाप्रभुजीके पार्षद महान्तगण धीरे-धीरे अप्रकट होने लगे। इसे सुयोगको मानकर बाउल, सहजिया, दरवेश, साँई, आदि कुपथगामी प्रचारक जगह-जगह अपने मतका प्रचार करने लगे। श्रीचैतन्य नित्यानन्दके नाम पर सर्वसाधारणका विश्वास था। अपने-अपने कार्योद्धारके लिये उनकी दुहाई देकर वे लोग दुर्भाग्य जीवोंको कुपथमें ले जाने लगे। श्रीजीव गोस्वामी उस समय एकमात्र वैष्णवाचार्य थे। वे ब्रजवासी होनेके कारण गौड़मण्डलकी ऐसी शोचनीय अवस्थासे दुःखित होकर श्रीनिवासाचार्य प्रभु, श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रील श्यामानन्द प्रभुको गौड़भूमिके धर्म संस्कारक आचार्यके रूपमें प्रतिष्ठित कर प्रभुके पार्षदोंके द्वारा रचित सभी सिद्धान्त-ग्रन्थोंको गौड़भूमिमें भेजा। महाप्रभुजीकी इच्छा से ये सभी ग्रन्थ रास्तेमें लूट लिये गये। प्रेरित प्रचारकगण बिना ग्रन्थोंके ही अपने-अपने भजनबलसे गीत-पढातिका अवलम्बन करके शुद्ध वैष्णवधर्म का प्रचार करने लगे।”

—‘भक्तिसिद्धान्त विरुद्ध और रसाभास’

(क्रमशः)

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

प्रचार-प्रसंग

श्रीदामोदर-व्रत और अन्नकूट-महोत्सव

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अधीनस्थ सभी मठोंमें पूर्व वर्षोंकी भाँति इस वर्ष भी चातुर्मास्य-व्रत तथा उसके अन्तर्गत ४ कार्तिक, २१ अक्टूबर, बुधवारसे ३ अप्रहायण, १६ नवम्बर, वृहस्पतिवार तक श्रीदामोदर - व्रत - नियमसेवाका नियमपूर्वक अनुष्ठान सम्पन्न हुआ है । सर्वत्र ही दामोदर-व्रतके उपलक्ष्यमें महीने भर तक प्रति दिन नियमानुसार श्रीविग्रह-सेवा-पूजा, श्रीमद्भागवत, श्रीचैतन्यचरितामृत आदि ग्रन्थोंका प्रवचन, पाठ, संकीर्तन और भाषण आदि हुए हैं । इस अनुष्ठानके अन्तर्गत सर्वत्र ही १६ कार्तिक, ५ नवम्बर, वृहस्पतिवारको श्रीगोवर्द्धन पूजा, अन्नकूट महोत्सव और २६ कार्तिक, १५ नवम्बर, रविवार उत्थान-एकादशीके दिन श्रीश्रीगौर-किशोरदास बाबाजी महाराजका विरह महोत्सव आदि विशेष समारोहके साथ सम्पन्न हुए हैं ।

श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, नवद्वीप, श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा और श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, चुचुड़ामें ये उत्सवसमूह विशेष रूपमें मनाये गये हैं ।

श्रीधाम नवद्वीप में—

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके मूल मठ श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, श्रीधाम नवद्वीपमें परमाराध्यतम श्रीश्रील आचार्यदेवकी अध्यक्षतामें मठके संन्यासी ब्रह्मचारी और गृहस्थ भक्तोंने आदर्शरूपमें नियम सेवाका अनुष्ठान किया है । प्रतिदिन सबेरे-शाम

श्रीवेदव्यास विरचित "श्रीदामोदराष्टकम्" का कीर्तन हुआ है । प्रतिदिन सबेरे श्रीचैतन्यचरितामृत मध्य-लीलासे श्रीमन्महाप्रभुजीका श्रीरंगममें चातुर्मास्य-व्रत पालन प्रसंग और शामको श्रीमद्भागवतसे दाम-बन्धनलीलाका पाठ हुआ है । इसके अतिरिक्त अन्य महाजन पदावलियोंका भी कीर्तन होता था । विशेष-विशेष अवसरों पर श्रील आचार्यदेव और दूसरे विद्वान् त्रिदण्डी संन्यासियोंके भाषण और प्रवचन होते थे । श्रील आचार्यदेवके भाषण बड़े ही मार्मिक, प्रसन्न गंभीर, दार्शनिक एवं हृत्कर्णरसायन होते थे ।

श्रीअन्नकूटका ऐसा विराट महोत्सव श्रीधाम नवद्वीप के लिये सर्वथा अभिनव और अश्रुतपूर्व था । लगभग ४५० प्रकारके सुखादु पदार्थोंका भोग श्रीश्रीगान्धर्विका गिरिधारीजीको आरोग्य गया था । दिनभर तथा रातके १० बजे तक आनेवाले लगभग पाँच लक्ष हजार लोगोंको श्रीअन्नकूटका महाप्रसाद खिलाया गया तथा लगभग १५-१६ हजार लोगोंको वितरण किया गया है । नवद्वीप और आस-पासके बहुतसे विशिष्ट व्यक्ति इस महोत्सवमें सम्मिलित हुए थे ।

मथुरा में—

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरामें श्रीदामोदर-व्रतमें महीने भर तक त्रिदण्डिभ्रामी श्रीमद्भक्ति वेदान्त नारायण महाराजने दैनिक प्रातःकालमें क्रमशः

श्रीव्यासदेवकृत श्रीदामोदराष्टकम्, श्रीमन्महाप्रभुके श्रीमुख-विगलित "श्रीशिक्षाष्टकम्", श्रीरूप गोस्वामी-कृत "श्रीउपदेशामृतम्" तथा श्रीरघुनाथदासकृत "श्रीमनःशिक्षा" की व्याख्या तथा शामको श्रीमद्-भागवत दशम् स्कन्धसे दामबन्धन लीलासे लेकर ब्रह्म-स्तुति तक पाठ-व्याख्या की थी। इसके अतिरिक्त श्रीवैष्णवपदावलियों, महामंत्र तथा श्रीदामोदराष्टकादि का दैनिक कीर्तन हुआ है। अन्नकूटके अवसर पर त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज, श्रीपाद हरिदास ब्रजवासी, "सेवा कौस्तुभ" श्रीकृष्ण स्वामीदास ब्रह्मचारी तथा श्रीपाद पिताम्बर पन्त (एम. डी. ओ. एम. ई. एम.) आदिने अन्नकूटके सम्बन्धमें तथा भक्ति तत्त्वके सम्बन्धमें भाषण दिये। उपस्थित लगभग ५०० लोगोंको मठमें अन्नकूटका महाप्रसाद भोजन कराया गया।

चुचुड़ा में—

श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ चुचुड़ामें भी श्रीभगवान-दास ब्रह्मचारीकी परिचालनामें श्रीश्रीगान्धर्विका-गिरिधारीजीको लगभग २०० प्रकारके सुस्वादु भोज्यपदार्थोंका भोग आरोग्य गया था तथा स्थानीय राहुरके शिक्षित संभ्रांत एवं सर्व साधारणके लगभग ५०० लोगोंको महाप्रसाद वितरण किया गया।

कलकत्तेमें उज्ज्वितके अवसरपर श्रीमद्भागवत पाठ—

कलकत्तामें कैनिंग स्ट्रीटस्थित 'भवानी पेपर कनसार्न' के मालिक श्रीयुक्त सुधीर कुमार साहाके महाशयकी विशेष प्रार्थना पर उनके निवास स्थानमें श्रीवेदान्त समितिकी परिचालकतामें श्रीदामोदर-व्रत

नियम सेवाके उपलक्ष्यमें एक महीने तक निममपूर्वक श्रीमद्भागवतका पाठ और प्रवचन हुआ है। प्रारंभ में परमाराध्यतम श्रील आचार्यदेवने १० दिनोंतक श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध द्वितीय अध्यायसे नवयोगेन्द्र संवादके केवल दो श्लोकोंकी ही विशद व्याख्या की। स्थानीय अध्यापक, वकील, शिक्षक, (Bengal Civil Service) के औफिसर आदि अनेकों उच्चशिक्षित श्रोता बड़ी संख्यामें श्रील आचार्यदेवकी व्याख्या श्रवण करनेके लिये एकत्र होते थे। वे लोग पाठके समयके अतिरिक्त दूसरे समय भी श्रील आचार्य देवसे व्यक्तिगत भाव से भी हरिकथा श्रवण करते थे।

श्रील आचार्यदेव द्वारा कलकत्तामें शुद्धभक्तिके इस प्रचारका संवाद वहाँके समाचार पत्रोंमें इस प्रकार छपा था—**पुगान्तरमें (२५ अक्टूबर)**—'श्याम शामको ७ बजे श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता आचार्य श्रीमद्भक्ति प्रज्ञान केशव महाराज २७ नं. मायादासी रोडके (वेहाला पुलिस थानाके निकट) सामने मैदानमें एक धर्म-सभामें श्रीमद्भागवतका पाठ और व्याख्या करेंगे।'

"पुगान्तर" (२७ अक्टूबर)—श्रीधाम नवद्वीपके आचार्य श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजी वेहाला मायादासी रोड पर प्रतिदिन शामको ६ बजे से श्रीमद्भागवतका पाठ और व्याख्या कर रहे हैं।'

तत्पश्चात् श्रील आचार्यदेव श्रीधाम नवद्वीपमें शुभ प्रत्यागमन करने पर अवशिष्ट २० दिनोंतक त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज जी सात-आठ ब्रह्मचारी-वानप्रस्थी मठवासियोंके

साथ रह कर श्रीमद्भागवतका पाठ किये । पूर्णिमा के दिन श्रीदामोदर-व्रत नियम-सेवा समाप्त होनेपर वे मठ वासियोंके साथ श्रीधाम नवद्वीप पधारे ।

श्रीलगौरकिशोरदास बाबाजी महाराजका

तिरोभाव महोत्सव

गत २६ कार्तिक उत्थान एकादशी तिथिको श्रीलगौरकिशोर दास बाबाजी महाराजकी तिरोभाव-तिथि समितिके सभी मठोंमें मनायी गयी है । इसी दिन शामको श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ मथुरामें त्रिदण्ड स्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण महाराज ने श्रीलबाबाजी महाराजके अतिमर्त्य जीवन चरित्र और शिक्षाओंपर विशदरूपसे प्रकाश डाला । अन्यान्य मठोंमें भी विभिन्न त्रिदण्डीचरणोंने बाबाजीके लोकातीत चरित्र और उनकी शिक्षाओं की पर्यालोचना की है ।

आसाम प्रदेशमें शुद्धाभक्तिका प्रचार—

गत २५ श्रावण, सोमवारको त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त विष्णुद्वैवत महाराज, श्रीरसिकमोहन ब्रजवासी तथा श्रीगजेन्द्रमोचन ब्रह्मचारी— इन तीन प्रचारकोंके नेतृत्वमें तीन प्रचार टोलियाँ बहिर्गत होकर लगभग ३ महिनेतक आसामके विभिन्न

स्थानोंमें तथा शिलीगुड़ी और कुचबिहारमें विपुल रूपमें हरिकथाका प्रचार किये हैं । उनकी धर्म सभाओंमें उन-उन स्थानोंकी शिक्षित-संभ्रान्त एवं साधारण—सब प्रकारकी जनताने अत्यधिक संख्यामें योगदान किया ।

वेगमपुर (हुगली) में—

समितिके प्रमुख प्रचारक त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त त्रिविक्रम महाराज, श्रीकुञ्जबिहारी ब्रह्मचारी, श्रीरामगोपाल ब्रह्मचारी आदिके साथ हुगली जिलेके वेगमपुर आदि गाँवोंमें शुद्धाभक्तिका विपुल प्रचार कर रहे हैं ।

चौबीस परगनेमें—

श्रीरसिकमोहन ब्रजवासी और श्रीगजेन्द्रमोचन ब्रह्मचारी अलग-अलग टोलियोंमें २४ परगनेके विभिन्न स्थानोंमें शुद्धभक्तिका प्रचार कर रहे हैं ।

मुर्शिदाबाद और मेदिनीपुरमें—

त्रिदण्डस्वामी श्रीमद्भक्तिवेदान्त विष्णुद्वैवत महाराज कुछ ब्रह्मचारियोंके साथ मुर्शिदाबादमें तथा श्रीराघव चैतन्य ब्रह्मचारी और श्रीपाद रोहिणीनन्दन ब्रह्मचारी कुछ ब्रह्मचारियोंके साथ मेदिनीपुरके विभिन्न स्थानोंमें हरिकथाका प्रचार कर रहे हैं ।

—निजस्व संवाददाता